सिद्धयोग

संस्थापक, संरक्षक एवं संपादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

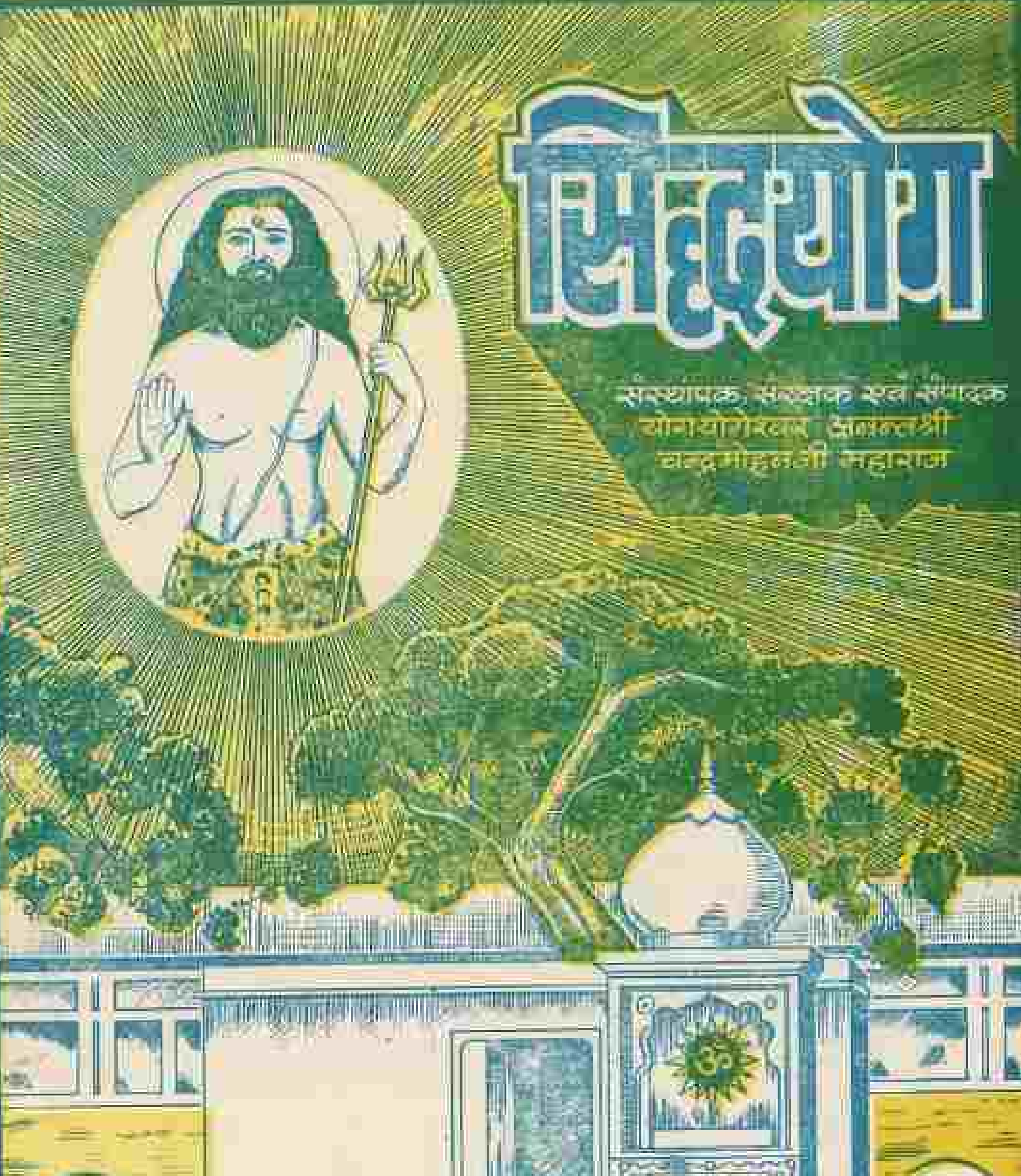

वर्ष २०
अं० ६

सि० १९८७

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन, सँवाई, आगरा

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा
सवाई

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

सितम्बर
१९८७

* अविनयमनुगन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम् (प्रार्थना) १
* योगस्थ कुरु कर्माणि (विशेष लेख) २
  योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज
* एषणाएँ और उनका हल ५
  ब्रह्मचारी श्री जगन्नाथ
* अन्दर के पट खोल रे! ८
  श्री शान्तिस्वरूप कपूर
* देहभाव ११
  श्री शिवाभावे
* पातिव्रत का प्रभाव १३
  श्री कृष्णकुमार पाण्डेय
* रहस्यमयी योग-विद्या १७
  श्री ब्रह्मचारी ओमप्रकाश पालीवाल
* योग-उपाख्यान २०
  प्रेषक—एक योग-साधक
* योग-विद्या का इतिहास २२
  श्री नन्दूराम यादव
* तत्त्व-पारखी दृष्टि २७
  श्री विष्णुप्रसाद 'व्यास'
* स्पन्द सूत्रों में योगियों का स्तर ३२
  डा० श्री विजयसिंह
* यही है गुरु-कृपा ३५
  श्री केशव उपाध्याय
* सर्वसिद्धि का मूल : गुरु प्रसन्नता ४०
  ब्रह्मलीन स्वामी मुक्तानन्द
* आइये, सन्ध्या करें ४३
  श्री अर्जुनदेव शास्त्री
* पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम् ४६
* दिव्य जीवन का निर्माण ४८
  श्री रामधन आर्य

वार्षिक मूल्य ३० रुपया। इस अङ्क का ४ रुपया

॥ श्री रामलाल प्रभवे नमः ॥

विश्व-विख्यात वाराणसी नगर में

विजयादशमी २ अक्टूबर शुक्रवार ८७ को

श्रीसद् गुरुदेवजी का जन्म-दिवस समारोह

एवं

योग-प्रचार कार्यक्रम

२६ सितम्बर से ३ अक्टूबर १९८७ तक होगा।

इसमें सम्मिलित होने के लिए आप सप्रेम आमन्त्रित हैं:—

सभी गुरु-भाई-बहिनों को हमें यह सूचित करते हुए परम हर्ष एवं प्रसन्नता हो रही है कि हमारे परम-पूज्य सद्गुरुदेव भगवान योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज का जन्म-दिवस समारोह बड़े हर्षोल्लास के साथ विजयादशमी २ अक्टूबर शुक्रवार ८७ ई० को बनारस नगर में मनाने का निश्चय किया गया है। पूज्य श्री सद्गुरुदेवजी ने इसके लिए अपनी स्वीकृति प्रदान करदी है। साथ ही इस उपलक्ष में २६ सितम्बर ८७ से ३ अक्टूबर ८७ तक महत्वपूर्ण योग-प्रचार कार्यक्रम का आयोजन भी रहेगा। आप सभी योग-प्रेमी भाई-बहिनों से प्रार्थना है कि इस महत्वपूर्ण कार्यक्रम में भाग लेकर हमें आभारी करें तथा श्री गुरुदेवजी के महत्वपूर्ण प्रवचनों और उनके दर्शनों का लाभ लें।

कार्यक्रम का स्थान :
आत्माप्रसादसिंह एडवोकेट
एस १०/१८६ नदेसर
(अमहरा पुल के पास)
वाराणसी (उ० प्र०)

निवेदक :
श्री सिद्धगुफा योग-प्रचार मण्डल
बनारस

आवश्यक-सूचना

(१)

बनारस में श्री गुरुदेवजी महाराज के जन्म-दिवस समारोह एवं योग-प्रचार कार्यक्रम में भाग लेने के लिए जो गुरु भाई-बहिन बाहर से पहुँचेंगे, उनके निवास के लिए बनारस कैण्ट स्टेशन से लगभग १०० गज की दूरी पर स्थित श्रीकृष्ण धर्मशाला में सुचारु रूप से व्यवस्था की गई है। बनारस कार्यक्रम में भाग लेने वाले सभी भाई-बहिन यहाँ सुविधापूर्वक अपना आवास पा सकेंगे। अतः आगन्तुकों को यह सूचना विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए।

(२)

'सिद्धयोग' के अनेक प्रेमी और कृपालु ग्राहकों ने नये वर्ष का मूल्य अब तक भेजने की कृपा नहीं की है। बिना मूल्य प्राप्त हुए उनके सभी अङ्क मय नये वर्ष के विशेषांक के उनके पते पर भेजे नहीं जा सके है। अतः ऐसे सभी ग्राहक-बन्धुओं से प्रार्थना है कि वे अपना वार्षिक मूल्य ३०) मनी-आर्डर द्वारा शीघ्र व्यवस्थापक सिद्धयोग कार्यालय सर्वाई आश्रम एत्मादपुर आगरा के पते पर भेजने की व्यवस्था करें; ताकि सिद्धयोग परिवार से उनका सम्पर्क सूत्र यथावत् बँधा रहे।

—व्यवस्थापक

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष २०	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्धं स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुखं विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः। तस्मात्सर्वाद् बहुविवादं योगमार्गोपदेशात्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥	सितम्बर
अङ्क ९		१९८७

❁ अविनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम् ❁

फलमलमशनाय स्वादुपानाय तोयं,
क्षितिरपि शयनार्थं वाससे वल्कलञ्च।
नवधनमधुपानभ्रान्त सर्वेन्द्रियाणां,
मविनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम् ॥

अर्थात्

जबकि भोजन के लिए फल, पीने के लिए पानी, सोने के लिए पृथ्वी, पहनने के लिए पेड़ की छाल पर्याप्त है, तब हम धन के मद से उन्मत्त इन्द्रियों वाले दुर्जनों के अविनय को क्यों सहें।

—योगिराज भर्तृहरि

हमारा विशेष लेख—

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

पूज्यपाद श्री गुरुदेवजी ने योगेश्वर श्रीकृष्ण के "योगस्थः कुरु कर्माणि" जैसे महामन्त्र की व्याख्या करते हुए प्रस्तुत लेख में योग-साधकों को यह परामर्श दिया है कि वे असंग होकर कर्म को कर्त्तव्य-पालन की भावना से करते रहेंगे तो निश्चय ही उन्हें जीवन की अन्तिम सिद्धि के रूप में मोक्षरूपी अमृत फल की प्राप्ति हो सकेगी। इसके लिए साधकको सदा योगस्थ रहना चाहिए, यानी दृढ़ता से योग के यम-नियम और सारे अंगोपांगों का निष्ठा-पूर्वक पालन करना चाहिए। यही 'योगस्थः कुरु कर्माणि' का तात्पर्य है।

—सं० सं०

योगस्थ कुरु कर्माणि

पूर्णावतार जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण महाराज ने श्रीमद्भगवद् गीता के दूसरे अध्याय के ४८ वें श्लोक में अर्जुन—धनञ्जय को निमित्त बनाकर संसार के प्राणियों को यह महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया है—

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्धय सिद्धयोः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

अर्थात्—हे अर्जुन! तू आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित हुआ कर्त्तव्य कर्मों को कर। समत्व ही योग कहलाता है।

भगवान् ने इससे पूर्वके अपने कथन में अर्जुन को अपना यह अभिमत बहुत ही दृढ़ता और स्पष्टता से प्रकट करते हुए इस तथ्य को बता ही दिया था कि यह संसार कर्मभूमि है, कर्मों के सम्पादन के लिए ही मनुष्य को यहाँ आना पड़ता है और अनिवार्य रूप से उसे यहाँ कर्म करने को विवश होना ही पड़ता है। लोकेषणा, वित्तैषणा और पुत्रेषणा का बीज अनेक जन्मों के कर्म संस्कारों के फलस्वरूप ही उसे स्थायी विरासत के रूप में मिला करता है और विरासत में मिला यह कर्म बीज ही उसे सुख-दुःख मिश्रित कर्म करने-कराने के लिए प्रेरित किया करता है।

इसीलिए ४८ वें श्लोक से पूर्व कथित अपने ४७ वें श्लोकमें दृढ़ता से भगवान् ने अपना यह मत व्यक्त कर दिया है कि तू यहाँ कर्म करने का ही अधिकार लेकर आया है। इसी अधिकार क्षेत्र तक अपनी समूची गति विधियों को तू सीमित रख। कर्म का फल क्या होगा? यह सोचना तेरे अधिकार क्षेत्र के बाहर की बात होगी। तू यहाँ केवल कर्म-करते रहने का अधिकार लेकर आया है कर्मफल पाने का नहीं। फल तो अनिवार्यतः मिलेगा ही, इसलिए तेरी दृष्टि फल की ओर नहीं, किन्तु कर्त्तव्य-पालन की ओर होनी

चाहिए। जब फल प्राप्ति अनिवार्य है तो फल उसका मिलता है या नहीं, इसकी चिन्ता में तू अपनी शक्ति का व्यर्थ ही अपव्यय क्यों कर रहा है। फल की चिन्ता और चेष्टा में यदि तू अधिक आसक्त रहेगा तो कर्मके सुयोग्यता-पूर्वक सम्पादन की सभी प्रक्रिया गलत हो जाने की सम्भावना अधिक रह सकती है।

इसीलिए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने दूसरे अध्याय के ४७ वें श्लोक में दृढ़ता से इस सत्य की उद्घोषणा कर दी कि—

कर्मण्येवाधिकारस्ते
मा फलेषु कदाचन
मा कर्म फल हेतु र्भू र्मा ते
संगोऽस्त्व कर्मणि ॥

'कर्म-फल का हेतु बनना क्या है' इस प्रश्न के उत्तरमें बताया गया है कि मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा किये हुये शास्त्र विहित कर्मों में और उनके फल में ममता आसक्ति वासना आशा, स्पृहा और कामना करना ही कर्मफल का हेतु बनता है। क्योंकि जो मनुष्य नाना प्रकार के कर्मों के फल भोग में आसक्त होता है उसी को कर्मों का फल मिलता है, कर्मों में और उनके फलमें ममता आसक्ति और कामना का त्याग कर देने वालों को नहीं।

यही कारण है कि भगवान ने कर्मफल का हेतु न बनने का परामर्श अर्जुनको दिया है। ४८ वें श्लोक में कहा गया है कि तुझे न कर्म करने में आसक्त होना चाहिए और न कर्मों का त्याग करना चाहिए। वे बता रहे हैं—

योगस्थ: कुरु कर्माणि
संग त्यक्त्वा धनंजय।

अर्थात् तू आसक्ति का सर्वथा त्याग करके सफलता असफलता में समान बुद्धि रख के कर्म करने में लग जा। कर्ममें हानि-लाभ जय पराजय, सिद्धि-असिद्धि आदि सब द्वन्द्वोंसे दूर हटकर लग जा, यही समत्व योग है। ऐसे योगनिष्ठ कर्मयोगी ही जीवनके अन्तिम लक्ष्य मुक्ति को प्राप्त कर लिया करते हैं। क्योंकि आसक्ति रहित समत्व बुद्धिसे किये उनके कर्म उन्हें जन्म-मरण के बन्धन में नहीं डाल पाते।

संग त्यक्त्वा—चित्त की समता कैसे रखा जाय ? भगवान् कहते हैं कि संग अर्थात् फल की आसक्ति छोड़कर कर्म करो। इससे कर्म में चित्त की समता बनी रहेगी। फल की आसक्ति ही आदमी के चित्त को डांवाडोल करती है। जगदात्मा कहते हैं—'शुरु किया हुआ कर्म यदि सफल रहा तो उससे बहुत प्रसन्न नहीं होना चाहिए, बहुत संतोष नहीं मानना चाहिए। यदि प्रारम्भ किया हुआ वह कर्म असफल रहा तो उससे दुःखी या खिन्न भी नहीं होना चाहिए। कर्म का आचरण करते हुए सफलता मिली तो अच्छा ही है। लेकिन किसी कारण सफलता न मिली तो भी अच्छा ही है। लेकिन किसी कारण सफलता न मिली तो वह अपूर्ण रहा ऐसा समझें, क्योंकि यदि सबका सब कर्म परमात्मा

को अर्पण कर दिया जाता है तो उसे परिपूर्ण ही समझो। इस तरह कर्म की सिद्धि और असिद्धि दोनों के प्रति जिसकी चित्तवृत्ति सम रहती है, श्रेष्ठजन उसकी योग स्थिति की सराहना करते रहते हैं।

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा—कर्म सफल हो या निष्फल, दोनों परिणामों के बारे में, जैसा कि ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा है, वैसी वृत्ति रखनी चाहिए। फलकी आसक्ति छोड़ने के लिए यानी अपेक्षित फल मिले या न मिले, उसके बारे में वृत्ति तटस्थ रखने के लिए जब भगवान् कहते तो सवाल उठते हैं कि कर्म की सफलता के लिए कोई योजना बनाई जाय या नहीं ? कर्म अच्छा ही होना चाहिए, इस का आग्रह रखने की जरूरत है या नहीं अथवा कर्म चाहे जैसा करने से चलेगा ?

मनुष्य फल की आकांक्षा से ही अच्छा कर्म करने में प्रवृत्त होता है। किसान को पता चले कि इस साल बरसात नहीं होने वाली है, तो शायद वह खेत जोतने आदि के झंझट में न पड़ेगा। इसलिए यह अच्छा ही है कि कर्म सफल होगा या नहीं, इसका पता पहले से नहीं चलता। अनुभव यह है कि कर्म-फल की इच्छा से ही आदमी कर्म करने या उसे अच्छा करने में प्रवृत्त होता है। भगवान् सिर्फ फल की आसक्ति छोड़ने के लिए कहते हैं, फल छोड़ने के लिए नहीं। फल की यह आसक्ति दुःखदायी है, इसीलिये उसे छोड़ना है। लेकिन आसक्ति से यदि आनन्द मिलता हो तो उसे रखने में कोई आपत्ति नहीं। मगर प्रायः यहाँ हमेशा यही अनुभव आता है कि आसक्ति हमेशा दुःख देती है। इसीलिए कर्म ढंग से करना हो तो उसका अपेक्षित फल अच्छी तरह मिले, इसकी योजना व्यवस्थित रूपसे पहले से बना लेनी चाहिए। अपेक्षित फल की प्राप्ति का आग्रह भी रहना चाहिए। लेकिन साथ ही अनाग्रह भी रहना चाहिए। इसका क्रम यह है कि पहले आग्रह और बाद में अनाग्रह। दोनों साथ-साथ एक के पीछे एक चलते रहें। आग्रह से योजना बनेगी, कर्म से दक्षता आयेगी, जागृति रहेगी लापरवाही नहीं होगी तो अनाग्रह से फल प्राप्ति के विषय में तटस्थता रहने से दुःख का अनुभव भी नहीं होगा। कर्म करने में अखण्ड प्रीति रहेगी। इस विषय में कुछ विद्वान् तीन बातें ध्यान में रखने के लिए कहते हैं—(१) जो कर्म हम करते हैं, उसका फल मिलना चाहिए ऐसा मन में आग्रह रखकर बड़ी कुशलता से कर्म करना चाहिए, लेकिन (२) अपेक्षित फल न मिले तो मन की समता डलने नहीं देनी चाहिए। और (३) अपेक्षित फल मिलने पर उससे अपने को अलग कर लेना चाहिए। यानी हम कर्म के कर्त्ता नहीं, अकर्त्ता है यह समझते हुए कर्म-फल ईश्वर को अर्पित कर अलग हो जाना चाहिए।

(४) अन्त में भगवान् संक्षेप में योग की व्याख्या करते हैं, समत्वं योग उच्यते। फल के विषय में चित्त को सम रखना, अनासक्त तटस्थ रखना अहंकार रहित रखना ही योग है। शास्त्र इसी वृत्ति को 'योग' कहता है।

एषणाएँ और उनका रूप

श्री ब्रह्मचारी जगन्नाथ

प्रश्नोपनिषद्-कार ऋषि 'विकृत-कामनाओं को 'अनृतपिधाना' कहते हैं; आइये इस पर विचार करें। शरीर-त्रयधारी मानव की आवश्यकतायें मुख्य रूपेण तीन प्रकार की होती हैं; किन्तु पशुओं तथा जन-साधारण की अपेक्षा एक प्रबुद्ध मानव की आवश्यकतायें कुछ अधिक हैं क्योंकि बुद्धि-प्रधान कर्मशील मानव को भोग सामग्री का अधिकांश 'भाग स्वश्रम' से जुटाना पड़ता है तथा मोक्ष प्राप्ति के निमित्त भी कुछ करना होता है; परन्तु मानवेतर भोग प्रधान योनियों के जीव कारावासियों के समान हैं, उनकी समस्त भोग सामग्री का प्रबन्ध विधाता की ओर से प्रकृति ही करती-कराती है। 'स्थूल-शरीर' सम्बन्धी आवश्यकतायें 'भोजन वस्त्र-निवास और जायायें' तो मानव तथा अन्य प्राणियों की समान ही हैं किन्तु मननशील मानव को विज्ञान प्रधान अपने 'सूक्ष्म-शरीर' के लिए विज्ञानार्जन करना एवं 'कारण शरीर' वासी 'देही जीवात्मा' के आहारार्थ आनन्द को उपार्जित करना भी आवश्यक होता है। उक्त तीनों शरीर अपने-अपने आहार को पाकर ही जीवित तथा भोग मोक्ष के साधक बने रह सकते हैं जन्मते ही मानव को जिन वस्तुओं की तुरन्त आवश्यकता प्रतीत होने लगती है उनमें सर्वप्रथम है 'क्षुधा तृषा की निवृत्ति' के लिए आहार की, पुनः शीतोष्ण की निवृत्ति के लिए वस्त्रों की तथा स्थाई रूप से सिर छिपाने (निवास) के लिए एक गृह की भी, नव यौवन प्राप्ति तक ये समस्त आवश्यकतायें माता-पिता पूर्ण करते रहते हैं। परन्तु स्नातकोत्तर किसी युवक के मन में उक्त आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए एक प्रबल किन्तु स्वाभाविक कामना उपजती है कि—मैं वित्तोपार्जन करूँ; क्योंकि वित्त से जहाँ शारीरिक आवश्यकतायें पूरी हो जाती हैं वहाँ यज्ञ, दान आदि 'धर्म' 'काम' की सिद्धि भी होती है। धर्म-सम्पुट-श्रम के द्वारा उपार्जित अर्थ से एक सन्तोषी का जीवन-निर्वाह सम्मानपूर्वक हो जाता है। अतः वित्त की कामना 'अभद्र कामना' नहीं कही जा सकती, न इसे एषणा ही की संज्ञा दी जा सकती है और न इसे पाप अधर्म अपराध माना जा सकता है। जीवन यात्रा सम्पन्न करने के लिए आवश्यकता रूप कामनाएँ तो यथार्थ सत्य-कामनायें 'त इमे सत्याः कामाः अनृतपिधानास्तेषां सत्यानां सतामनृतपिधानम्' हैं। शुभ कामना के अपूर्ण रहने का एकमात्र कारण होता है मानव की अभीप्सा पर 'अनृत-स्वार्थमय अहंजनित' कठोर आवरण का आ पड़ना, इस क्लिष्ट आवरण के आ पड़ने पर शुभ कामनाएँ इस भाँति ही फल-फूल नहीं पातीं जैसे किसी शिलाखण्ड के आ पड़ने से वृक्ष-वल्ली-गुल्म आदि के मृदुल बीज अंकुरित नहीं हो पाते। शारीरिक अन्य आवश्यकताओं के साथ किसी भी युवक को एक अन्य

आवश्यकता भी अनुभव होती है वह है उसकी उद्दाम काम-पीड़ा को समय-समय पर शमन करने वाली 'नारी' को;'नारीयंत्र' की प्राप्ति भी वित्त से ही सम्भव होती है। इसके संग से अनेक दुष्पूर कामनाओं की उत्पत्ति उत्तरोत्तर होती चली जाती है—जो मरण काल तक पूर्ण होने का नाम ही नहीं लेती, संग-दोष से उत्पन्न हुई ये तथा ऐसी ही अन्यान्य कामनाएँ जो जीवनमें पूर्ण नहीं हो पातीं-जिन्हें वेद ने 'अनृतेन पिहिताः' की संज्ञा दी है, ये सभी आवागमन के चक्र में मनुष्य को घुमाती रहती हैं। आवागमन से बचने तथा वित्त और जाया हीन व्यक्ति को इनके बिना भी अपनी पूर्णता की ओर ध्यान दिलाने के लिए 'पाङ्क्त यज्ञ, का बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णन किया गया है।

अनृतपिधाना कामनाएँ—

'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति' की उक्ति के अनुसार मनुष्य की यथार्थ आवश्यकताएँ तथा मङ्गल कामनाएँ भी 'विलासिता' तथा रूप-रस-गन्धादि पाँचों विषयों के संसर्ग से धूमिल गदली बनी और काम-क्रोध-लोभादि विकारों द्वारा प्रताड़ित भोग-बुभुक्षित बनकर 'अनृत-पिधाना' बन जाती है-[उक्त अनृतमय कठोर आवरणों में दबकर सत्य कामनायें भी पूर्ण नहीं होती, फूलती फलती नहीं]; ये कुत्सित कामनायें 'आशा-तृष्णा' की झंझावात का प्रश्रय पाकर दुष्पूर 'एषणा' का कराल रूप धारण कर लेती हैं, उद्ग्रीव सदा बुभुक्षित, 'अहम्' को उज्जीवित रखने वाली 'एषणा-मात्र' के परित्याग का विधान समस्त आध्यात्मिक ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से मिलता है—यह उपदेश-आदेश या आज्ञा मनुस्मृति आदि धर्म-शास्त्रों तथा उपनिषदादि अध्यात्म ग्रन्थों में स्पष्ट रूप में पाई जाती है। लोक प्रसिद्ध 'वित्तैषणा पुत्रैषणा लोकैषणा' पूर्वोक्त वित्त-जाया आदि की आवश्यकताओं तथा विकृत-अहं का घृणित रूप है। वित्तैषणा है—धन-धान्यादि की प्रवृद्धतृष्णा, पुत्रैषणा है—कामुकता जो जाया और पुत्र-पुत्रियों को पाकर भी शान्त नहीं होती। लोकैषणा है—दुष्पूर यश की उत्कण्ठा, इनमें से कोई किसी से हीन या हेटी नहीं, सभी समान रूप से 'आत्मघाती' हैं। जब किसी विषय की लालसा अत्युग्र होकर अदम्य हो उठती है तब इसे विषय-विकार कहते हैं और जब यह विकार खाने को दौड़ता है तब इसके पूर्णरूप का नाम एषणा हो जाता है। ये विकार सभी को मर्माहत करते रहते हैं। कोई विरला तापस यति सन्तोष-धन पाकर धन-धान्य की कामना से निवृत्त होकर निरीह सा बन जाता है। कोई अपनी उग्र साधना या वैराग्य के कारण आंशिक रूप में पुत्र-पुत्रियों की कामना पर कुछ अधिकार पा जाता है, किन्तु यशका परित्याग कर देना अमानुषिक साहसी कार्य है। मृत्यु विभीषिका के समान ही लोकैषणा का मद-मोह भी मूढ़ से लेकर विद्वान तक ही सीमित नहीं दीखता, यह तो पशु-पक्षियों, कीट-पतङ्गों तक में अपने उग्र रूप में दीख पड़ रहा है। यह ठीक है कि

विद्वान-मूढ़-पशु-पक्षी आदि अपनी-अपनी योग्यता और बलाबल के अनुसार देश-जाति-कुटुम्ब-संघ में मूर्धन्य वा यशस्वी एवं वरिष्ठ बनने का प्रयास करते हैं और सभी सीमाओं को लांघना सर्वपूजित बनने के लिए संघर्ष ही नहीं करते वरन् तुमुल महायुद्धों के द्वारा रक्त की नदियाँ बहाते सुनें तथा वर्तमान में भी देखे जाते हैं। प्रायः ऐसा क्यों करते हैं ये? क्योंकि वरिष्ठ बनकर सर्वपूजित होकर भोग विलास की मनमानी छूट मिल जाती है। यह लालसा तृष्णा-बुभुक्षा देवों तक में अत्युत्कट से विद्यमान देखी सुनी जाती है। देवाधिपति इन्द्र को किसी का उत्कर्ष सहन नहीं होता, वह अहर्निश सदा दूसरों का तप भङ्ग करने-कराने में लगा रहता है। जिससे इन्द्रासन पर सदा उसी का अधिकार जमा रहे—ऐसा लेख पुराणों में देखा गया है।

अब तीनों एषणाओं में से लोकैषणा' अहं का आहार होने से विशेष महत्त्व रखती है। क्योंकि 'अहं' का प्रिय आहार 'मान-पूजा प्रतिष्ठा आदि ही है, सर्वपूजित और मूर्धन्य बने रहने की लालसा-तृष्णा-अतिप्रबल दुर्निग्रही-अविजित-तथा अपराजेय भी है। लोकैषणा उक्त दोनों से विलक्षण है। यह अहं की कल्पित अज्ञान जनित उपज है; आवश्यकता पूर्ति पर 'कामना' शान्त तथा निवृत्त भी हो जाती है किन्तु एषणा वह दुष्पूर बुभुक्षा है। जो तृप्ति का कभी नाम ही नहीं लेती तृप्त होना जानती ही नहीं। यह पापाचार में ढकेल कर, अपराधी बनाकर, मानव को कष्टों की दल-दल में फँसा देने वाली एक मारक विभीषिका (बला) है, 'एषणा मात्र' ज्ञान और शक्ति की भक्षक मानव को अशक्त पंगु बना देने वाली-आवागमन-चक्र में डाल कर पीस देने वाली एक क्रूर चक्की है। जहाँ जहाँ यह है वहाँ-वहाँ दुःख है। यत्र-यत्र एषणा 'तत्र-तत्र तापम्' व्याप्ति भी प्रयुक्त हो सकती है। 'सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः'-योग-२-४२ सूत्र कथित अवस्था से सर्वथा विपरीत है यह कामना का निकृष्ट-हेयरूप है 'एषणा', यह निश्चय कर लेना चाहिए।

विषयों का विकारों से सम्बन्ध—

ग्रन्थों में यत्र-तत्र ऐसा लेख मिलता है कि—ये काम-क्रोध-लोभादि विकार, रूप-रसादि विषयों के विकृत रूप हैं। कहीं-कहीं काम-क्रोधादि को मानसिक-विकार कहा है, वस्तुतः तो समस्त दूषण, अभद्रता आदि मन के ही विकार हैं, पुनः विशेष रूप से कामादि को ही मानसिक विकार क्यों कहा गया है? प्रथम यह, और दूसरी शंका यह उत्पन्न होती है कि—रूप-रसादि से ये कामादि विकार प्रकट कैसे होते हैं? विचार में तनिक गहरा बैठने पर ऐसा कुछ ज्ञात होता है कि-जैसे जगत् के समस्त भाव-रस तथा पदार्थों के मूल कारण त्रिगुण हैं एवमेव ये शब्द-रूप-आदि भी त्रिगुणों के ही तो कार्य हैं। अतः त्रिगुणों की न्यूनाधिकता से प्रभावित होकर ये सगुण और निर्गुण अथवा विकार बन जाते हैं। जैसे सत्व प्रधान अवस्था में तो ये शब्दादि ज्ञान के प्रकाशक होते हैं। रज! प्रधान होकर ये विषाद के उत्पादक 'कामादि विकार' बन जाते हैं और पुनः तमस् के आमिश्रण से ये विकार 'एषणाओं' का रूप धारण कर लेते हैं। यह तो हुआ कामादि विकारों के साथ पाँचों विषयों का साधारण सम्बन्ध।

अन्दर के पट खोल रे !

❀ श्री शान्तिस्वरूप कपूर

गंगाराम बड़ा मलङ्ग रहा अपने बचपन में, सब दोस्त इसके साधन थे, एश मौज की जवानी मस्तानी आई, गंगो सुन्दर जनानी आई, पहले आटा-दाल की चिन्ता पिताजी को थी, माताजी को थी। अब गंगाराम यह बोझ उठाने लायक तगड़ा हो गया था, रोटी-रोजी के खेत में पुरुषार्थ का हल चला लेता था। गंगो बाहर से सुन्दर और स्वच्छ थी, अन्दर से सुघड़ थी, स्यानी थी, मेहनत करके जो गंगू लाता गंगो उसे सावधानी से खर्च करती, कुछ बचाती कुछ खिलाती। जीवन का बसन्त नये-नये अरमानों के फूल खिलाता, सौभाग्यवान् था यह चकवा-चकवी का जोड़ा "एक ने कही दूजे ने मानी, नानक दोनों महाज्ञानी" जहाँ रगड़ा नहीं, वहाँ झगड़ा कैसे? गृहस्थ के जुए के नीचे दोनों गरदन डाले, शुभ कर्मों का हल चला कर आगे आने वाले कल के लिए आनन्द बीज रहे थे। जो बीजेंगे सो काटेंगे।

गृहस्थ की बेल पर एक मोहन एक मोहन के साथ एक भोली के मीठे फल लगे। गंगा और गंगो चारों पहर इनकी चौकीदारी करते रहे, कहीं बुरी संगत का कोई कौवा इनको खराब न कर दे, कहीं इनकी गन्ध दुर्गन्ध न हो जावे, कहीं इनकी पुष्टि में रुकावट न आए, कहीं इनके बर्तन में कसर न रह जावे, दिन-रात की मेहनत सफल हो गई, फल तैयार हो गये, सामर्थ्य के अनुसार शादियाँ कर दीं, दूसरे गमलों में आरोप दिए, आप कमाएँ आप खाएँ। धीरे-धीरे जीवन की दोपहर बीत गई, शाम आने लगी, इधर से कुछ फुरसत पाई, जोड़ी निकली यात्रा पर पहाड़ों के नजारे-झरने बर्फ से लदी चोटियाँ, कहीं लाल-लाल सेब, कहीं लाल मुख की खुमानी, कहीं रसभरी नाशपाती, कहीं अखरोट, बादाम, शुद्ध शहद, खुशबूदार कालाजीरा, महकाने वाला केसर। एक ही धरती, एक ही पानी, एक ही हवा, पर लीला सब न्यारी-न्यारी—

> नजारे बहुत थे पर नजर छोटी थी।
> सीख बहुत थी पर अकल मोटी थी॥

पहले तो—

> "फिकरे रोजी में, मदहोश थे इतने।
> कि फिकरे रोजी तो थी,
> राजक का कुछ ख्याल ना था॥"

अब इन नजारों की मस्ती ने इतना मदहोश कर दिया कि, इनके बनाने वाले का ध्यान ही नहीं आया, पहाड़ से उतरे हरिद्वार आये, मथुरा घूमे, इलाहाबाद संगम पर सैर की, बनारस के घाटों पर मीरा दिवानी के गीत सुने। विश्वनाथ के संगमरमर के मन्दिर में उछल-उछल कर घण्टे बजाये। काली के मन्दिर कलकत्ते आये, छोटे-छोटे बकरी के बच्चे काली के नाम पर कटते देख खूब घबड़ाये, वह गंगा जो गंगोत्री में कितनी स्वच्छ ठण्डी, पावन थी यहाँ आते-आते रास्ते के कुकर्मों से कितनी मैली, कितनी धीमी, कितनी

थक गई थी, और बेबस होकर खारे समुद्र में लीन हो गई, अब यह गंगा नहीं थी, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, कावेरी भी नहीं थी, अब यह मात्र खारी समुद्र की लहर थी। प्रभु की कृपा हो गई, बुद्धि इन नजारों में खो गई। एक जिज्ञासा की दीपशिखा जाग उठी, काली कमली वाले के क्षेत्र में सवेरे-सवेरे मीठे स्वर गूँज रहे थे।

असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मा, अमृतं गमय।

झूठ से सत्य की ओर, अन्धेरे से रोशनी की ओर, और मौत से मोक्ष की ओर चलो रे राही! यही आखिरी पड़ाव है, यही आखिरी पुरुषार्थ है, यही आखिरी लक्ष्य है। गङ्गा का किनारा, योगियों की साधना से सुरभित वातावरण और जीवन की सन्ध्या-बेला, सबमें जीवन के चिन्तन की नैया का रुख बदल दिया, जिज्ञासा जाग उठी, अन्दर वाला बोल उठा—

कुछ देर फिकरें आलमे बाला को छोड़ दे।
इस अंजुमन का राज इसी अंजुमन में है॥

ओ भोले गङ्गाराम! ओ प्यारी गङ्गो! अब कुछ समय के लिए बाहर की मौज-मस्ती छोड़ दे, चोटी वाले का हलवा-पूड़ी भूल जा दिल्ली के दरीबे की जलेबी बहुत खा ली, कुलफी और चाट भी चखा ली बाहर बहुत घूम लिया, अब कुछ अन्दर की सुध ले, इस यात्रा का राज अन्दर है बाहर नहीं। ओ भूले मुसाफिर! यह कब तक चलेगा।

"अन्दर पण कुड़ला, बाहर वंशी वाले लाल गजा" तू पहलगाँव गया था, तूने लाल सेब, खुमानी, बादाम अखुरोट खाया, एक क्षण के लिए रसना तृप्त तो हो गई। पर यह सुख क्षण से अधिक टिका नहीं, यदि तू तब भी समझ लेता कि सेब की लाली बाहर से नहीं, अन्दर से आई है, मिठास जलेबी की तरह बाहर की चासनी से नहीं, खुमानी के अन्दर से आई है तो तेरा बेड़ा पार हो जाता। तू तब भी जाग न सका, तू ने चलती गङ्गा-यमुना, कावेरी को देखकर भी न समझा कि चलने की गति जड़ जल के कतरों में नहीं थी, कोई अटल नियम इनको भगा रहा था, तू नियन्ता की खोज करने की ओर चल पड़ता तो भी कुछ और आगे आ जाता, तूने कितनी ही प्रभात बेला देखीं। सूरज को उदय होते देखा, दोपहर की तीव्र तपिश देखी, शाम को अस्त होते देखा। तूने सुना ही नहीं

डूबते सूरज को ढलते शाम देख।
हुस्न वाले, हुस्न का अंजाम देख॥

तुमने सूरज से पूछा ही नहीं तेरे को यह रोशनी, यह गर्मी, यह आकर्षण कहाँ से मिला, तूने चाँद देखा, चाँदनी देखी, उसकी चाँदनी में ठण्डक देखी, समुद्र को पूर्णमासी के दिन चाँद की ओर उछलते देखा पर पूछा नहीं यह सब भण्डार उसे किस अन्दर वाले ने दिया, कबीर गाता रहा—

सुबहान तेरी कुदरत पे कुरबान।
पानी ऊपर चादर बिछाई,
तम्बू ताना असमान।
चाँद सूरज बने मशालची,
चमके सकल जहान॥

जो कोई यहाँ नाचन
आया बूढ़ा ना जवान।
पाँच तत्त्व का पिंजरा बनाया,
फूंके इस में प्राण ॥
आँखें देखें कान सुने रे,
बोली बोले जबान।
हथ्थी लेवे हथ्थी देवे,
पाँव नापे जहान ॥
पिंजरे अन्दर मैना बैठी,
गावे उसके गुन गान।
भर के पेट सुलाता सबको,
भूखा जगे जहान ॥
जरे जरे में रहा समाया,
परम दयाल भगवान्।
कहे कबीर सुनो भाई सन्तो,
साहिब को पहचान ॥

तो जीवन के मोक्षपथ के यात्री कबीर ने तुझे जगाया था जागा नहीं, संसार के विषयों से भगाया था तू भागा नहीं ओ बावरे !

दिल के अन्दर ही खुदा था,
तुझे मालूम न था।
मुश्क नाफे में छिपा था,
तुझे मालूम ना था ॥
हश्र क्या उस मरीज का होगा।
जहर को जो दवा समझता है ॥

मेरे प्यारे, घबड़ा नहीं !

देख तू वक्त की बदलीज से,
टकरा के ना गिर।
रास्ते बन्द नहीं सोचने,
वाले के लिये ॥

उसके दरबार में जब जागो तभी सवेरा है। "जो जागत है सो पावत है, जो सोवत है सो खोवत है"। तू भी अब बाहर के पट बन्द करके अन्दर के पट खोल, तुम्हें पिया मिलेंगे जरूर।

वह तेरे अन्दर, तेरे बाहर, तेरे पास, तेरे से दूर, सब जगह पर हर क्षण जागता हुआ तेरी रक्षा करता है, तुझे बुलाता है, उसकी गोद हर समय तेरे लिए खाली है, वह सच्चा शिव है सबका कल्याण करने वाला तेरे हृदय के मन्दिर में है, वह कल्याण का भण्डार है, उसके चिन्तन से, मनन से तेरे सब इरादे, मनसूबे हमेशा कल्याणकारी हो जायेंगे सुन उसके वेद की वाणी को सुन।

❀ गीता दर्शन ❀

गीता के सम्बन्ध में एक श्लोक प्रसिद्ध है जिसमें कहा गया है कि सब उपनिषदें गौओं की तरह हैं, और गीता अमृत रूपी दूध है, और दुहने वाले स्वयं श्रीकृष्ण भगवान हैं। एक विद्वान का कहना है कि यदि भारत का समस्त साहित्य नष्ट हो गया होता और केवल गीता ही रह गई होती तो भी संसार को आर्य जाति के गौरव की याद दिलाने के लिए वह पर्याप्त थी। गीता भारतीय संस्कृति का प्रतीक है।

देहभाव

❀ श्री विनोबा भावे

बाइबिल में ईसामसीह का एक वाक्य है : 'हमें परमात्मा के लिए नपुंसक बनना है। मैंने इस पर सोचा, तो मुझे लगा कि स्त्री, पुरुष या नपुंसक भेद देह के साथ जुड़े हुए हैं। स्त्री, पुरुष और नपुंसक, तीनों से हम भिन्न हैं। अगर दुनिया में स्त्री और पुरुष ये दो ही जमातें होतीं, तो स्त्री और पुरुष से भिन्न कहकर नपुंसक बनने की बात हो सकती थी, लेकिन नपुंसक भी एक जमात है। हम देह से भी भिन्न हैं, इसलिये उन तीनों से भिन्न हैं। ब्रह्म-विद्या का आरम्भ ही यह है कि 'मैं देह नहीं हूँ।' बहुत से लोग समझते हैं कि देहभाव के मिटने से ब्रह्म-विद्या की समाप्ति है, लेकिन वह गलत है। वह तो ब्रह्म-विद्या की शुरुआत है। ब्रह्म-विद्या की समाप्ति बहुत दूर की बात है।

जब हम कहते हैं कि ब्रह्म-विद्या स्त्रियों के हाथ में आनी चाहिए, तब वह एक सामाजिक भाषा है। लेकिन किसी स्त्री को यह अभिमान हो जाय कि मैं ब्रह्म-विद्या की आचार्या बनूँगी, तो आरम्भ में ही सारा शून्य हो गया। बात ऐसी है कि आज तक स्त्री-पुरुष की आसक्ति का विषय बनी थी और पुरुष की विरक्ति का विषय भी स्त्री ही बनी थी। किसी संन्यासी ने स्त्री की आसक्ति छोड़ी तो उतने से ब्रह्मविद्या नहीं हो सकती। आसक्ति और विरक्ति दोनों छोड़नी चाहिए, अन्यथा वह 'एण्टी' (प्रतिक्रियारूप) आसक्ति होगी। 'एण्टी' में वे सारे दोष होते हैं, जो मूल में होते हैं। आसक्ति की प्रतिक्रियारूप जो विरक्ति है, वह आज तक की ब्रह्म-विद्या में भरी पड़ी है।

एक प्रसिद्ध कहानी है। मीराबाई मथुरा गई थी। वहाँ एक साधु के दर्शन के लिए उसके आश्रम के पास गई, तब उसे जवाब मिला कि संन्यासी स्त्री का दर्शन नहीं करना चाहते। उस पर मीराबाई ने उसे ऐसा डाँटा है—"हूँ तो जाणती हती जे व्रजमां पुरुष छे एक, व्रजमां रहीने पुरुष रह्या, भलो तमारो विवेक।" मैं तो समझती थी कि इस व्रज-भूमि में एक ही पुरुष है—भगवान् कृष्ण और कोई पुरुष नहीं है। जब आप इस व्रज में रह कर भी पुरुष बने रहे हैं, तब आपने अपना विवेक सिद्ध कर दिया। मीराबाई की फटकार सुनकर संन्यासी बाहर आया और उसने मीराबाई से क्षमा माँगी। लेकिन उस बेचारे ने जो किया था, अपनी रक्षा के लिये किया था। रक्षा के लिये नियम बनाये थे।

मेरा मानना है कि इस प्रकार की ब्रह्म-विद्या, जो इस आधार पर बनी है, कमजोर बनी है। ब्रह्म-विद्या की जो असली शक्ति है, वह इसीलिये प्रकट नहीं हो सकी थी। समाज डरपोक था, वैसे ही ब्रह्म-विद्या भी डरपोक थी। जो स्त्री या पुरुष ब्रह्म-विद्या में प्रवेश करना चाहता होगा, उसे प्रथम इसका निराकरण करना होगा कि 'मैं स्त्री हूँ' या 'पुरुष हूँ।' उसे समझना होगा कि मैं देह नहीं हूँ।

जब तक हम देह-भिन्नता का विचार नहीं करते हैं, तब तक मेरी निगाह में हम वि ही नहीं करते। विचार का आरम्भ तभी

होता है, जब हम देह-भिन्नता का विचार शुरू करते हैं। अगर मैं मानता हूं कि मैं देह हूं, तो उसका मतलब यह हुआ कि मैं विचार ही नहीं करता हूं। मेरा ख्याल है कि कोई भी शेर विचार नहीं करता होगा, सिवा इसके कि खाना कैसे मिलेगा, विषय-वासना की पूर्ति कैसे हो और कोई डर हो, तो उससे कैसे बचें। क्या कोई शेर—साहित्य, धर्म, आत्मोन्नति का विचार करता होगा? शास्त्रों के आधार पर मैंने मान लिया है कि कभी दुःख होने पर वह पश्चात्ताप करता होगा। शायद वह सोचता होगा कि मैंने सबकी दुश्मनी की, किसी की मदद नहीं की, इसलिए कोई मेरी मदद नहीं कर रहा है। आखिरी दिनों में जब बूढ़ा हो जाता है, तब वह तड़प-तड़प कर मरता है। ज्ञानदेव ने इसका वर्णन किया है कि बुढ़ापे में वह अपने हाथ को काटकर ही खाता है। उस समय उसे खाने के लिए गीध भी इकट्ठे होते हैं और राह देखते हैं कि यह कब मरेगा। संभव है कि उस समय उसे पश्चात्ताप होता होगा। बाकी आत्म-चिन्तन वगैरह उसके लिए शक्य नहीं है।

इसलिए जहाँ देह-भिन्नता का भान नहीं है, वहाँ मनुष्य मनुष्य है ही नहीं, दो पाँव वाला जानवर है। चार पाँव वाले जानवरसे उसकी भिन्नता यह है कि उसके पास दो लंबे हाथ हैं। इसलिए वह तरकीब से काम कर सकता है; लेकिन वह जानवर की ही एक जाति है। जैसे सिंह के दाँत मजबूत होते हैं, हाथीकी सूँड़ मजबूत होती है, वैसे ही मनुष्य की अक्ल मजबूत होती है और वह तरह-तरह के औजार बना सकता है, इतनी ही बात है। जब तक मनुष्य अपने को देह से भिन्न पहचानता नहीं, तब तक वह जानवर की कोटि में ही चला जाता है और दुःखके साथ कहना पड़ता है कि इतनी सभ्यता और संस्कृति के बावजूद मनुष्य-समाजका काफी हिस्सा जानवर की अवस्था में अभी तक है।

अब इसमें से निकलने की युक्ति क्या है, यह कहने से क्या लाभ है? अगर सुनने वाले की श्रद्धा जम गई, तो उसे श्रद्धासे लाभ होगा और उसकी बुद्धिको जँच गया, तो भी लाभ होगा, लेकिन 'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च' ज्ञान भी नहीं, श्रद्धा भी नहीं, ऐसी हालत हो तो कोई लाभ नहीं होगा। सुननेवाले को लाभ दो प्रकार से हो सकता है—श्रद्धाके द्वारा या बुद्धिके यानी विचार के द्वारा।

प्रश्न को श्रद्धाके द्वारा हल करना हो तो अनेक संत पुरुषों ने, शास्त्रकारों ने जो कहा है कि तू शरीर नहीं है, उसे श्रद्धा से मानना चाहिए और इस प्रकार श्रद्धा जम सकती है। बचपन में मुझे भूत का डर था। माँ ने कहा कि 'भूत दीखे तो लालटेन लेकर देखो तो वह भाग जायगा। वह तो कल्पनामात्र है और परमात्मा की भक्ति करने वाले को भूत कभी दीखता नहीं। माँने इतना कहा और मेरा भूत का डर खतम हुआ। क्योंकि माँ पर मेरी श्रद्धा थी। लेकिन मैंने श्रद्धा रखी, इसलिए डर खतम हुआ। इसमें केवल श्रद्धाका नहीं, बुद्धि का भी उपयोग किया गया।

पातिव्रत का प्रभाव

श्री पं० कृष्णकुमार पाण्डेय

भारत भूमि तपोनिष्ठ भूमि है। यहाँ पर ईश्वर से लेकर मनुष्य तक ने तपस्या के प्रभाव से अद्‌भुत कार्य किये हैं। ईश्वर, ऋषि एवं सिद्धगण का तो तपस्या आधार ही है। यहाँ पुरुष ही नहीं, अपितु स्त्रियाँ भी तप के प्रभाव से संसार में अमर हो गई हैं। सती, अनुसुइया, नर्मदा, सीता, सावित्री तो मनुष्य की कोटि की हैं। राक्षसों की स्त्रियाँ भी इनसे कम न थीं। उन्होंने भी अपने पातिव्रत के प्रभाव से अपने पति की पूर्ण रक्षा की, परन्तु मनुष्य की अपनी इच्छा होती है। ईश्वर की अपनी लीला करने की प्रवृत्ति होती है। जैसा आनन्द एवं खेल करने की इच्छा होती है, उसी प्रकार कार्य-कारण-सम्बन्ध बना लेते हैं, इससे उन पर कोई दोष नहीं आता है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है—"समरथ को नहीं दोष गोसाईं।" कार्य-कारण व्यवस्था उनको श्रुति-सम्मत पंथ की रक्षा के लिए करनी पड़ती है, क्योंकि इनके लिए यही आवश्यक कार्य होता है। गीतामें श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज ने कहा है-

यद्यदाचरति श्रेष्ठ-
स्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते,
लोकस्तदनुवर्तते।
—गीता ३/२१

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है अन्य पुरुष भी वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर देता है मनुष्य समुदाय उसके अनुसार ही बरतने लगते हैं।

उत्सीदेयुरिमे लोका न,
कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुप-
हन्यामिमाः प्रजाः॥
—गीता ३/२४

अर्थात् इसलिए हे अर्जुन यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट भ्रष्ट हो जायें और मैं संकरता का करने वाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजा को नष्ट करने वाला बनूँ। इसमें भगवान् बताते हैं कि मेरा कर्म करने का प्रयोजन लोक रक्षा के निमित्त होता है, क्योंकि मैं कर्मों से लिप्यायमान नहीं हूँ।

पतिव्रता अनुसुइया सीता को पातिव्रत का लक्षण बताती हुई कहती है—

जग पतिव्रता चारि बिधि अहहीं।
बेद पुरान संत सब कहहीं॥
उत्तम के अस बस मन माहीं।
सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखहिं कैसे।
भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई।
सो निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई।
जानेहु अधम नारि जग सोई॥
पति बंचक परपति रति करई।
रौरव नरक कल्प सत परई॥

आगे पुनः अनुसुइया माता स्त्री के लिए परम गति की कल्पना को बताती हुई कहती है कि—"बिनु श्रम नारि परम गति लहई।"

अर्थात् स्त्री बिना किसी अन्य तपस्या के ही वह मात्र पति की सेवा करके परम गति प्राप्त कर लेती है। परन्तु जो ऐसा नहीं करती, अपितु पति से छल करती है, उनकी गतिको बताते हुए माता अनुसुइया कहती है-

पतिव्रत धर्म छाँड़ि छल गहई।
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई।
विधवा होइ पाइ तरुनाई॥

पतिव्रताओं के उज्ज्वल चरित्र का मुख्य कारण "सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं" रहा प्रस्तुत लेख में एक ऐसी ही पतिव्रता असुर-नारी वृन्दा की कथा का निबन्धन है—

वृन्दा कालनेमि की कन्या थी। उसका विवाह जलंधर से हुआ था। जलंधर शिव के क्रोधाग्नि के कारण समुद्र से पैदा हुआ था। जन्म लेते ही वह इतने जोरसे चिल्लाया कि देवलोक के देवता व्याकुल हो उठे। ब्रह्मा जी उस आवाज से व्याकुल होकर आवाज की गति का अनुसरण करते हुए समुद्रके पास पहुँचे। वहाँ उन्होंने समुद्र से आवाज के बारे में पूछा। ब्रह्माजी के पूछने पर समुद्र ने उसे अपना पुत्र बताया और उस बालक (जलंधर) को ब्रह्माजी को दे दिया। ब्रह्माजी ने ज्योंही उसे गोद में उठाया, उसने ब्रह्माजी की दाढ़ी इतने जोर से नोची कि उनकी आँखोंसे आँसू आ गये। बालक के इस कृत्य को देखकर उसका नाम जलंधर रख दिया। बालक धीरे-धीरे युवावस्था की ओर बढ़ने लगा।

एक बार उसके मन में आया कि मैं संसार में सबसे अधिक बलवान् बनूँ। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसने घनघोर तपस्या करके उस प्रकार का बल प्राप्त कर लिया। अब तो बल प्राप्त कर वह उन्मत्त हो गया। उसके भय से सुर, असुर सब भयभीत होने लगे। देवलोक में जाकर वह देवताओं को युद्ध में पराजित कर इन्द्र के पद पर जा बैठा। उसके भयसे सब त्रस्त देवता शिवजी के पास गये। शिवजी देवताओं के रक्षार्थ तुरन्त युद्ध करने चल दिये। संग्राम में भगवान् शिव एवं जलंधर का घनघोर युद्ध हुआ, परन्तु दोनों में से कोई किसी से पराजित नहीं हो रहा था। जलंधर के पराजित न होने का मुख्य कारण उसकी पतिव्रता स्त्री वृन्दा के तप का प्रभाव था। इधर जब जलंधर को भगवान् शिव से युद्ध करने की बात वृन्दा ने सुनी तो उसने अपने पतिके प्राणों की रक्षा के लिए ब्रह्माजी की अर्चना में लग गई। वृन्दा जलंधर को प्राणों से भी अधिक प्यार करती थी। उसकी सारी गति सदैव जालंधर के साथ रहती थी। जलंधर इसी के प्रभाव के आधार पर वह भगवान से युद्ध को उद्धत हो गया। उसके युद्ध के सम्मुख भगवान् शिव के सारे अस्त्र-शस्त्र बेकार होते जा रहे थे। सभी अस्त्र-शस्त्र को बेकार होते देखकर भगवान् शिव ने परम कृपालु प्रभु का स्मरण किया। भगवान् विष्णु ने उनकी सहायता की।

यद्यपि जलंधर को मार देना उनके लिए कठिन नहीं था, परन्तु एक पतिव्रता स्त्री

अपने पति के लिए घनघोर तप में लगी है। इस पतिव्रता की मर्यादा को रखने के कारण ही वे ऐसा नहीं कर पा रहे थे, यह ईश्वर की लचीली नीति का कारण है। यहाँ एक उदाहरण देना प्रासंगिक होगा—महाभारत के युद्ध के पूर्व दुर्योधन तथा अर्जुन दोनों भगवान श्रीकृष्ण के पास सहायता माँगने गये। उस काल में भगवान् ने एक प्रतिज्ञा की कि—मैं युद्ध में शस्त्र ग्रहण नहीं करूँगा। दूसरी ओर मेरी सेना है, इसमें से जो जिसको उपयुक्त हो वह ले ले। दुर्योधन ने झट से कहा—महाराज! मुझे तो आपकी सेना दे दें। भगवान ने सेना देना स्वीकार कर लिया। अर्जुन तो भगवान कृष्ण को ही चाहते थे। भीष्म के सेनापतित्व में दुर्योधन की तरफ से युद्ध की तैयारी हुई। पाण्डवों की तरफ से स्वयं अर्जुन युद्ध में थे। घनघोर युद्ध हुआ, इधर भीष्म भी प्रतिज्ञा किये हुए थे कि—मैं भगवान को शस्त्र ग्रहण कराके ही छोड़ूँगा। दूसरा यही तो भक्त भीष्म चाह रहे थे। यहाँ भी भक्त की मर्यादा की रक्षा के लिए भगवान अपनी प्रतिज्ञा भूल गये और शस्त्र लेकर युद्ध के लिए तैयार हो गये। यह रही भक्तों के प्रति भगवान की मर्यादा। इसी प्रकार यहाँ भी पतिव्रता की मर्यादा का रक्षण करना था। भगवान् विष्णु ने भगवान् शिव की सहायता की। भगवान् विष्णु को छल करना पड़ा। छल करने का प्रयोजन धर्म की स्थापना करना था, क्योंकि सभी देवता भय से संत्रस्त थे तथा वेद विहित कर्म लुप्त हो गया था। इस लिए भगवान तपस्वी यति का वेश बनाकर वृन्दा के घर के पास विचरने लगे। वृन्दा ने उनको यति जानकर पूछा कि—हमारे पति कब विजय पायेंगे? यति बोले कि—वह तो मार डाला गया। तब वृन्दा ने कहा—तुम झूठ बोल रहे हो, हमारा पतिव्रत रहते हुए उसे कौन मार सकता है? यति वेशधारी भगवान ने आकाश की ओर दृष्टि की तो दो वानर जलन्धर के शरीर को विदीर्ण करते हुए दिखाई पड़े। थोड़ी देर में शरीर के टुकड़े वृन्दा के समीप आ गिरे। यह देखकर वह विलाप करने लगी, तब यति ने कहा—इसके अङ्गों को तू जोड़ दे। तेरे पातिव्रत के प्रभाव से यह जी उठेगा। पति प्रेम में पागल वृन्दा ने वैसा ही किया। अङ्गों के स्पर्श करते ही भगवान उस शरीर में प्रवेश कर जलन्धर बना हो, उसका व्रत भंग किया, तभी जलंधर को भगवान शिव ने मार डाला। जलंधर के मरते ही वृन्दा को यह बात तुरन्त मालूम हो गई। वृन्दा भगवान के छल को जान गई, इसी समय क्रोध में आकर उसने भगवान को शाप दिया कि जिस तरह तुमने मेरे साथ छल किया, उसी प्रकार जलंधर भी रावण होकर तुम्हारी पत्नी का अपहरण करेगा।

छल करि टारेउ तासु व्रत,
प्रभु सुर कारज कीन्ह।
जब तेहिं जानेउ मरम तब,
श्राप कोप करि दीन्ह॥
—मा०

अर्थात्, छल करके भगवान ने उसके

पातिव्रत को भंग किया तथा देवताओं के कार्य को किया, परन्तु जब वह (वृन्दा) इस रहस्य को जान गई तो उसने क्रोध करके शाप दे दिया—

तासु श्राप हरि दीन्ह प्रमाना।
कौतुक निधि कृपाल भगवाना॥
तहाँ जालंधर रावन भयऊ।
रन हति राम परम पद दयऊ॥

अर्थात् भगवान ने उसके शाप को आदर दिया, क्योंकि वे कौतुक के निधान, कृपालु और षडैश्वर्य सम्पन्न हैं। वहाँ (उस कल्प में) जालंधर रावण हुआ, जिसे युद्ध में मारकर भगवान ने परम पद दे दिया।

वृन्दा के इस उत्कट पातिव्रत को देखकर ऐसा लगता है कि सुर, मुनि और मनुष्य की ही स्त्रियाँ नहीं अपितु राक्षसों की स्त्रियों ने पातिव्रत के प्रभाव से अपने पति की रक्षा की है, पातिव्रत का प्रभाव ऐसा होता है। आज भी जिन घरों में पति-पत्नी में आपस में अभिन्न प्रेम रहता है, वहाँ सभी प्रकार की समृद्धि रहती है। परन्तु जहाँ कलह रहता है, वहाँ इस प्रकार सुख समृद्धि का सर्वदा अभाव रहता है। पतिव्रता के प्रभाव का निर्देशन संस्कृत के निम्न उद्धरणों से भी स्पष्ट हो जायेगा—

यस्य पत्नी भवेत्साध्वी,
पातिव्रत परायणाः।
सः जयी सर्व लोकेषु,
सुसुखी स धनी पुमान्॥
कम्पते सर्व ते आसि,
दृष्ट्वा पातिव्रतं महः।
भर्ता सदा सुखं भुङ्क्ते,
रममाणो पातिव्रताम्॥
धन्या सा जननी लोके,
धन्योऽसौ जनकः पुनः।
धन्यः च पतिः श्रीमान्,
येषां गेहे पतिव्रता॥

— ❀ —

—❀ मातृ-शक्ति का महत्व ❀—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।

जहाँ नारियों की पूजा होती है; वहाँ देवता रमण करते हैं। अर्थात् नारियों को आदर देने वाले घर में दैवी-शक्तियाँ सदैव सहयोग प्रदान करके उसे धन-धान्य, सम्पदा, सुख और स्वास्थ्य आदि से भरा पूरा बनाये रहती हैं। —महाराज मनु

× × × ×

जो काम पुरुषों से करना सम्भव नहीं होता, उसे मातृ-शक्ति द्वारा सहज ही पूरा किया जा सकता है। —योगी अरविन्द

रहस्यमयी योग-विद्या

ब्रह्मचारी श्री ओमप्रकाश पालीवाल

योग-दर्शन ग्रन्थ का विषय योग है, जिसकी सूचना महर्षि पतञ्जलिजी ने प्रथम सूत्र में ही देदी है। योग क्या है? इसे दूसरे सूत्र में बता दिया है—'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।" अर्थात् चित्त की बाह्य वृत्तियों का सर्वथा रुक जाना। योगका फल क्या है? इसी तीसरे सूत्र में बताया गया है "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" अर्थात् द्रष्टा 'आत्मा' को अपने स्वरूप (परमात्म-स्वरूप) में स्थित, क्योंकि द्रष्टत्व भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। अपने स्वरूप में द्रष्टा दृश्य और दर्शन कुछ रहता ही नहीं है। यह प्रश्न उठता है कि जब द्रष्टा ही है वह क्या सर्वदा अपने स्वरूप में अवस्थित नहीं होता? इसका उत्तर चौथा सूत्र है—"वृत्ति सारूप्यमितरत्र।" यद्यपि द्रष्टा पुरुष स्वभाव से असङ्ग और निर्लिप्त है, परन्तु चित्तरूपी तरङ्गों के रहने पर द्रष्टा का चित्त सारूप्य होता है और अपने भोगकर्तृत्व, द्रष्टत्व शक्ति और चित्त में दृश्यत्व और भोग्यत्व शक्ति का अनुभव-सा करता रहता है। चित्तवृत्तियों के निरुद्ध होने पर वह स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, जो योग-साधना का फल है।

मनुष्य के शरीर में मन, प्राण, बिन्दु और वाक् ये चार चीजें अत्यन्त ही शक्तिशाली हैं। इनमें से किसी भी एक की सिद्धि से सब पर अधिकार हो जाता है। अतः इनका एक में केन्द्रित हो जाना ही सिद्धि है। मन में एकाग्रता को राजयोग, प्राण में एकाग्रता को हठयोग और वाक् में एकाग्रता को मंत्रयोग कहते हैं। बिन्दु का सम्बन्ध कुण्डलिनी से है। कुण्डलिनी का जागरण और वीर्य-विजय के साथ बिन्दु में स्थिरता से कुण्डलिनी-योग होता है। इस प्रकार योगी लोग इस शरीर के भीतर ही परमसिद्धि का संधान मानते हैं।

शिव-संहितामें हठयोग राजयोग को परस्पर पूरक बताया गया है—'हठं बिना राजयोगो, राजयोगं बिना हठः।' राजयोग का सिद्धान्त है—"यत्र मनो लीयते तत्र प्राणो लीयते" और हठयोग का सिद्धान्त है—"यत्र प्राणो लीयते तत्र मनो लीयते।" अर्थात् राजयोगियों का कथन है कि जहाँ मन लय होता है, वहीं प्राण भी लय हो जाता है और हठयोगियों का कथन है कि जहाँ प्राण लय होता है, वहीं मन भी लय हो जाता है। वस्तुतः पातञ्जल द्वारा निर्दिष्ट चित्तवृत्ति निरोध स्वरूप योग मन और प्राण के संयम के ही अधीन है। यही हठयोग का राजयोग समन्वित स्वरूप है।

हठयोग—ज्ञान, प्रकाश तथा प्राण और शक्ति का वाचक 'सूर्य' और आनन्द, रस तथा शीतलता का वाचक 'चन्द्र' दोनों का परस्पर में मिलना ही हठयोग है—

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते,
सूर्यचन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगो निगद्यते।

हठयोग का प्रधान लक्ष्य है, कुण्डलिनी

शक्ति को मूलाधार से ग्रस्त कर शून्य-गगन स्थित सहस्र दल-कमलमें मिला देना। 'कुण्डलिनी' प्रकृति का प्रतीक है और 'सहस्रारचक्र' सत्पुरुष अथवा ब्रह्म का। शिव और शक्ति के प्रतीक रूप में भी सहस्रार और कुण्डलिनी का जागरण मात्र हठयोग से ही होता हो, ऐसी बात नहीं है। ध्यान योग और भक्ति-योग से भी उसका जागरण होता है। समष्टि रूप महाकुण्डलिनी—'शक्ति' सम्पूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त है। यही शक्ति जीव में व्यष्टि की प्रधानता से 'कुण्डलिनी' कही जाती है। जीव कुण्डलिनी और प्राण इन दो शक्तियों के साथ माता के गर्भ में प्रवेश करता है। यह कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत, स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में निश्चेतन अर्थात् साढ़े तीन वलयों में अपने को समेटे सोई रहती है। उसके केन्द्र में अग्निचक्र अर्थात् त्रिकोणचक्र में अवस्थित स्वयंभू-लिंग होता है। उसी को सूर्य की संज्ञा दी जाती है। स्वयंभु-लिंग के ऊपर विभिन्न कक्षा के आठ चक्रों की व्यवस्थित योजना देखने में आती है—(१) मूलाधारचक्र (२) स्वाधिष्ठानचक्र (३) मणिपूरकचक्र (४) अनाहतचक्र (५) विशुद्धचक्र (६) आज्ञाचक्र (७) सहस्रारचक्र या शून्य चक्र। इस स्थान को शून्य-गगन कैलाश आदि संज्ञायें दी जाती हैं। षट्-चक्र भेदन की प्रक्रिया में प्राण एक नियत मार्ग से क्रमिक ऊर्ध्व-गति प्राप्त करता है। इसमें विभिन्न नाड़ियों का योग रहता है। चक्र-भेदन के लिए ऊपर उठने वाली कुण्डलिनी सुषुम्ना से प्रवाहित होती है। इस क्रिया में इड़ा-पिंगला सहायक होती है। प्राण वायु का वहन करने वाली बायीं ओर की नाड़ियाँ 'इडा' और दाहिनी ओर की नाड़ियाँ 'पिंगला' कही जाती हैं। इडा के लिए चन्द्रनाड़ी, 'ललना' और 'गंगा' तथा 'पिंगला' के लिए सूर्यनाड़ी, 'रसना' और 'यमुना' प्रतीकों का व्यवहार होता है। इन दोनों के बीच में रीढ़ के एक छोर से दूसरे छोर तक—ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त 'सुषुम्ना' है। सुषुम्ना के लिए 'सरस्वती' प्रतीकों का प्रयोग होता है। सुषुम्ना के अन्दर क्रमशः वज्रा, चित्रिणी और ब्रह्मनाड़ी का समावेश होता है। सूर्य और चन्द्र, प्राण और अपान के प्रतीक हैं।

नाड़ी चक्र की तिर्यक मार्ग और त्रिवह् गति योगियों ने माना है। सुषुम्ना का मार्ग सरल मार्ग, मध्यम मार्ग है, जो अपवर्ग का प्रदाता है। सुषुम्ना के भीतर स्थित ब्रह्म-नाड़ियों में से कुण्डलिनी प्रवाहित होती है। इडा, पिंगला और सुषुम्ना तीनों का ब्रह्म-रन्ध्र में संगम होता है। इसको ही योगियों ने सच्चा 'त्रिवेणी' प्रयागराज तीर्थ कहा है। संगम होने पर वायु का गमनागमन निरुद्ध होकर 'महासुख' अर्थात् सहज सुख का आविर्भाव होता है और योगी कमल-किंजल्क का पान करता है।

'कैलाश' माने जगद्गुरु योग-योगेश्वर भगवान् शिव का स्थान। प्रत्येक व्यक्ति के गुरु का स्थान अपने भीतर वाले इस कैलाश में है—"यह पावन नाम रूप जल में परमानन्दमय प्रकाश पंथ में उत्पन्न होता है। (मूल

शक्ति) उसकी नाल है और 'अनाहद-नाद' उसका रूप है। जहाँ वायु और मन एक साथ निश्चल हो जाते हैं वह 'ऊर्ध्व मेरु' सुषुम्ना का सिरा, आध्यात्मिक यात्रा की अन्तिम मंतव्य 'कैलाश' है। वहीं महामुद्रा और 'मूल शक्ति' का निवास-स्थान है। अपने निवास-में लौट आना ही योगी का परम कर्त्तव्य है।

प्राणायाम—प्राणायाम अर्थात् वायु-विजय, प्राण-निरोध। हठयोग की साधनामें ब्रह्मचर्य का पालन मुख्य शर्त है वायु अर्थात् प्राण। प्राण और मन का संयम ब्रह्मचर्य में सहायक है। वीर्य के लिए 'बिन्दु' शब्द का प्रयोग किया गया है। ये तीनों परस्पर सम्बद्ध हैं, एक का निरोध हो जाने पर अन्य दो भी निरुद्ध हो जाते हैं। क्रियायोग में बिन्दु, वायु और मनस सूक्ष्म होकर ब्रह्मनाड़ी में प्रवेश कर ऊर्ध्वगामी होते हैं। उस स्थिति में कुण्डलिनी शक्ति का इनसे एक रूप हो जाना स्वाभाविक है।

आज्ञाचक्र अथवा दोनों भ्रूवों एवं नाक के मध्यवर्ती केन्द्र को त्रिकुटी योगियों ने कहा है—बाहर के किसी मन्दिर के ऊपर गुम्बद की रचना जो देखने में आती है, इस बाहरी मन्दिर की रचना की प्रेरणा भीतर से ही मिली है। अन्तर में स्थित असली मन्दिर की प्रतिकृति बाहर का मन्दिर है। मनुष्य शरीर सच्चा परमात्मा का मन्दिर है।

बिन्दु—जीवन तत्व से युक्त रस, सूक्ष्म बिन्दु और सत्ता का स्थूल रूप है। नाद से प्रकाश होता है और प्रकाश का व्यक्त रूप है, बिन्दु जो तेज का प्रतीक है। बिन्दु तीन प्रकार से अभिव्यक्ति पाता है—इच्छा, ज्ञान और क्रिया। नाद और बिन्दु की यह क्रीड़ा ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। नाद माने 'शब्द' शब्द ही ब्रह्म है, बिन्दु नाद का मूर्तसाकार रूप है। पिण्ड में अर्थात् मनुष्य शरीर में यह बिन्दु वीर्य के रूप में रहता है। हठयोग में बिन्दु को ऊर्ध्वगति प्रदान करने की साधना है। कामवृत्ति के उन्नयन करने वाले योगी को 'ऊर्ध्वरेतस' कहा जाता है। कुण्डलिनी को जाग्रत कर योगी लोग जब उसे (बिन्दु को) उद्बुद्ध कर देते हैं, तब वह ऊपर की ओर उठती है। उसकी इस ऊर्ध्वगति से जो स्फोट होता है उसे नाद कहते हैं। यह नाद अनाहत रूप से सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। यही पिण्ड में भी है, पर इसे अज्ञानी नहीं सुन सकते, क्योंकि उनका सुषुम्नापथ बन्द है। जब योग की साधना से यह पथ खुल जाता है तब यह अनाहत ध्वनि सुनाई पड़ती है। अनुभवी साधकों ने समुद्र गर्जन, मेघों की गड़गड़ाहट, झांझ, घण्टे आदि और अन्त में किंकिणी, वंशी, भ्रमर आदि की ध्वनि के समान बताया है। यही नाद वास्तव में उपाधियुक्त होकर सात स्वरोंमें विभाजित हो जाता है, पर निरुपाधि होकर प्रणव या ओंकार कहलाता है, इसीको 'शब्द-ब्रह्म' कहते हैं। योगियों ने अनाहत नाद को 'सोऽहं' ध्वनि कहा है।

सभी साधनाओं का परम साध्य परमात्मा है और चित्त-शुद्धि होने पर ही वह परमात्मा अनुभव में आता है। बिना योगके चित्त शुद्धि संभव नहीं है, चित्तकी वृत्तियोंका जैसे निरोध होता है, वैसे-वैसे ही चित्त शुद्ध होकर एकाग्रता को प्राप्त करता है।

स्कन्द पुराणाधारित—

योग उपाख्यान

❀ प्रेषक—एक योग साधक

एक बार भगवती पार्वती ने आदि नाथ भगवान शिव से विनम्रतापूर्वक आग्रह किया नाथ आप ऐसा उपाय कीजिये जिससे मैं ध्यानयोग को पाकर ज्ञानयोग की प्राप्ति कर सकूँ।

परम कल्याण कर भगवान शिव परम प्रसन्नता से बोले—कल्याणी इसके लिए द्वादशाक्षर नामक मन्त्र का तुम जप करो। वह वेद का सनातन सार तत्त्व है। प्रणव (ॐकार सब वेदों का आदि है। वह समस्त ब्रह्माण्डों का याजक है तथा समस्त कार्यों में प्रथम उच्चारण करने योग्य तथा सब सिद्धियों का दाता है। उसका शुक्ल वर्ण है, मधुच्छन्दा ब्रह्मा ऋषि है, परमात्मा देवता है गायत्री छन्द है तथा समस्त कर्मों में उसका विनियोग किया जाता है। देव जो प्रतिदिन सम्पूर्ण बीजाक्षरमय द्वादशाक्षर मन्त्र का जाप करता है। वह पापों से लिप्त नहीं होता। यह द्वादश लिङ्गमय अक्षरों से युक्त द्वादशाक्षर मन्त्र कर्मचक्र में स्थित है। विनियोग सहित प्रत्येक वर्ण के ध्यान, ऋषि, बीज, छन्द और देवता आदि के चिन्तन पूर्वक ध्यान, जप और पूजन करने पर भक्तों का कर्म जनित बन्धनों से मोक्ष हो जाता है। ध्यानयोग से समस्त पापों का नाश हो जाता है। जप और ध्यान ही योग का स्वरूप है। शब्द ब्रह्म (ॐकार एवं वेद) से प्रकट हुआ द्वादशाक्षर (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) मन्त्र वेद के समान है। ध्यान से मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर सकता है। ध्यान से वह शुद्धता को प्राप्त होता है। ध्यान से परब्रह्म का बोध होता है तथा सगुण स्वरूप में चित्त-वृत्ति की एकाग्रता रूप योग भी ध्यान से ही सम्भव होता है। ध्यानयोग दो प्रकार का होता है। एक सालम्ब (सविशेष) और दूसरा निरालम्ब (निर्विशेष) सगुण साकार विग्रह नारायण का दर्शन सालम्ब ध्यान है। दूसरा जो निरालम्ब ध्यान है वह ज्ञानयोग के द्वारा बताया गया है। वह सबका आलम्ब है। रूप रहित, अप्रमेय तथा सर्वस्वरूप जो सनातन तेज है, जिसका प्रकाश कोटि-कोटि विद्युतों के समान है। जो सदा उदयशील एवं पूर्णतम है, जो निष्कल, सकल एवं निरञ्जनमय है, आकाश के समान सर्वव्यापक है। मूलस्वरूप एवं तुरीयातीत है; जिसकी कहीं उपमा नहीं है, वही परमेश्वर का निराकार स्वरूप निरालम्ब ध्यानयोग के द्वारा चिन्तन करने योग्य है। वह द्वन्द्वों से रहित एवं साक्षीमात्र है। शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल है। अपने तेज से उपमा रहित और अगाध है। उसी को तुम अङ्गीकार करो।

भगवान् नारायण का सूर्य मस्तक है, पृथ्वी हृदय है तथा रसातल चरण है। वे मूर्तामूर्त स्वरूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में स्थित है। भगवान् विष्णु ही ब्रह्मरूप से ज्ञानयोग के आश्रय हैं। वे ही समस्त प्राणियों की सृष्टि और पालन करते हैं तथा वे ही सबका संहार करते हैं, वे सर्व देवमय है। सनातन काल से

ही भगवान् विष्णु बारह मासों के अधिपति हैं। इसलिए सम्पूर्ण मासों में समस्त दिनों और सब प्रहरों में श्रीहरि का स्मरण करने वाला पुरुष संसार-बंधन से मुक्त हो जाता है। पार्वती ! मेरी भक्ति से तुम शीघ्र योग-सिद्धि प्राप्त करो और ज्ञान से प्राप्त होने योग्य सर्वोत्कृष्ट भगवान् नारायण के स्वरूप को समझो, योग का अभ्यास सदा करना चाहिए। विशेषतः चातुर्मास में योग की साधना करने वाला पुरुष अपने सब पापों का नाश करता है। जो योगी दो घड़ी भी अपने कानों को बन्द करके अपने मन को ब्रह्मरन्ध्र में स्थापित करता है, वह पापों से मुक्त हो जाता है। जिसके घर में एक भी योगी पुरुष एक ग्रास अन्न भी भोजन कर लेता है, वह अपने सहित तीन पीढ़ियों का अवश्य उद्धार कर देता है। यदि ब्राह्मण योगी हो तो उसके दर्शन से ही सब प्राणियों की पाप-राशि का संहार कर देता है। यदि ब्रह्म-परायण उत्तम कर्मों वाला श्रेष्ठ शूद्र योग का अभ्यास करता है। सद्गुरु में भक्ति रखता है और नियमित आहार करते हुए जो योगी परब्रह्म की समाधि में स्थित होता है। वह भगवान् विष्णु का सायुज्य प्राप्त होता है।

भगवान् श्रीहरि की प्रीतिसे उनके स्वरूप में लीन हो जाता है। हे पार्वती ! यह योग ज्ञान की सिद्धि प्रदान करने वाला है। सनकादि आचार्यों तथा मुक्ति की इच्छा वाले देवेश्वरों ने भी इसका सेवन किया है। सर्व प्रथम योगियों के जो सदा ज्ञान की सम्पत्ति होती है, उस ज्ञान-सम्पत्ति से सुहीव होकर मनुष्य योगी होता है। तदनन्तर योगी के आगे अणिमा आदि सिद्धियाँ उपस्थित होती हैं, परन्तु योगी उनमें मन नहीं लगाता है। योग से सम्पूर्ण दानों और यज्ञों का फल प्राप्त होता है। योग से सम्पूर्ण कामनाओं की प्राप्ति होती है, कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो योग से प्राप्त न होती हो। योग से हृदय की गाँठ नहीं रहने पाती है। योग से ममता-रूपी शत्रु नहीं पैदा होता। योगसिद्ध पुरुष का मन कोईभी लुभा नहीं सकता है, भगवान् स्वयं भी इस चराचर जगत् में व्याप्त हैं। योगेश्वरों के परम उपास्य उन भगवान् को अपने ब्रह्मरन्ध्र में स्थित जानकर मनुष्य इस मायामय जगत् का मोह उसी प्रकार छोड़ देता है, जैसे सर्प अपनी केंचुली को त्याग देता है।

❁ याद रक्खो ❁

याद रक्खो संसार में वैभव और ख्याति विद्या, कला आदि का उतना मूल्य नहीं जितना मूल्य है चरित्र का, चरित्रवान व्यक्ति ही कठोर पाषाण की दीवाल को सहज ही ध्वस्त करने की क्षमता रखता है।

—आचार्य बृहस्पति

योग विद्या का इतिहास

❀ श्री अन्तराम यादव

मुझे एक बार एक छोटी सी पुस्तक पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ जिसमें योग-विद्या के संक्षिप्त इतिहास की भी जिक्र था। एकाएक, प्रातः स्मरणीय श्री सद्गुरुदेव भगवान की कृपा से अन्तःप्रेरणा हुई कि इस तथ्य को पत्रिका के माध्यम से अपने गुरु-भाई-बहिनों तक पहुंचा दूं।

एक समय था, जब इस पृथ्वी पर चारों ओर वन जंगल और बीहड़ था। जिस प्रकार वर्षा ऋतु में माता पिता के गर्भ से निकले बिना अनेक कीट उत्पन्न हो जाते हैं, वस ही उस काल में अनेक योनियों के जोड़े उत्पन्न हुए। मनुष्य भी स्त्री-पुरुष के रूप में युवावस्था लिए हुए इस धरती पर आया। वह वन पशु के सदृश्य अबोध और नग्न शरीर से स्थान-स्थान पर उन जंगलों में विचरने लगा। वह अपना रूप देखता था, अपने साथियों का रूप देखता था, पर उसे यह ज्ञान नहीं था कि मैं कौन हूं, कहां से आया हूं और क्या मेरा कर्त्तव्य है, यह सृष्टि का आदि काल था।

उन ऐसे मनुष्यों में कुछों के मस्तिष्क में एक प्रेरणा हुई और उससे उनकी बुद्धि का विकास हुआ। उन्होंने प्रेरणा के द्वारा अपने को कुछ समझा और थोड़े से अपने कर्त्तव्य समझे। यह ऐसे लोग—"आदि ऋषि" कहलाये और पवित्र प्रेरणा को 'वेद' कहा गया, जो अति सूक्ष्म रूप में पलमात्र के समय में उन ऋषियों के मस्तिष्क में उतरे थे।

इन आदि ज्ञानियों ने अपनी मनुष्य जाति के सभी प्राणियों को खोज-खोज के इकट्ठा किया। उन्हें बोध कराया, उनको उनके कर्तव्य बतलाए। उन्हीं दिनों एक "मनु" नाम के ऋषि हुए जिन्होंने अपनी ज्ञान-शक्ति के सहारे सामाजिक नीतियों के नियम बनाये और चार वर्णों की व्यवस्था चालू की। इन सब बातों से मनुष्य जिन-जिन वस्तुओं को अपने स्थूल नेत्रों से देख रहा था, उसका कुछ-कुछ तो ज्ञान हुआ परन्तु उसके अन्तर में क्या छिपा हुआ है, यह रचना कैसे हुई, किसने की? इसका उसे तनिक भी बोध नहीं हुआ।

कहा जाता है कि सामाजिक व्यवस्था ठीक हो जाने पर भी वहां लाखों वर्ष तक मनुष्य भौतिकवाद में ही रहा, इससे परे कोई चैतन्य आत्मा भी है, इसका उसे तनिक भी ज्ञान नहीं हुआ। एक बार श्री ब्रह्माजी ने इन सबको एकत्र करके सभा की—उसमें जो प्रवचन उनका हुआ, उसमें उन्होंने आत्मा की ओर भी इशारा किया; उसकी थोड़ी परिभाषा भी की, परन्तु यह उन्होंने भी नहीं बताया कि ऐसी आत्मा को कैसे जाना जाता है, आत्म-क्षेत्र तक किन साधनों से पहुंचा जाता है।

इसके लाखों वर्ष पीछे एक 'कपिल' नाम के ऋषि इस धरती पर आये, वह जन्म से ही सिद्ध थे। हिन्दुओं के यहां चौबीस अवतारों में उनका नाम भी लिया जाता है,

उन्होंने उत्पन्न होते ही जिह्वा खोली और अपनी माता देवहूती को मोक्ष ज्ञान का उपदेश दिया। आगे उन्होंने एकान्त में बैठ के इस संसार रूपी मक्खी को मथा और उनमें से एक विचित्र मक्खन निकला। मक्खन में उन्होंने देखा कि उसके अन्दर सूक्ष्म रूप से पच्चीस तत्व मिले हुए हैं, जिनमें चौबीस जड़ हैं और एक चेतन है। उन्होंने यह भी देखा कि उस चेतन तत्व से एक प्रकाशवती विद्युत धारा फूट के उन चौबीस जड़ तत्वों को ठोकर दे रही है, इन सबको घुमा रही है, और यही सारी रचना का आधार है।

खोज

श्री कपिलजी की इस फिलासफी को सुन के लोगों में उत्साह आया, हजारों लोग इनके अनुसन्धान में लग पड़े, अनेक यन्त्रोंकी रचना कर जगत् के भौतिक तत्वों की खोज आरम्भ कर दी और 'भौतिक-विज्ञान' अथवा साइंस को उन्होंने जन्म दिया। इन्हींमें से एक ऋषि और भी आगे बढ़े और उन्होंने पच्चीसवें चेतन तत्व (आत्मा) की खोज का बीड़ा उठाया और एकान्त में बैठ आत्मा पर अपने अन्वेषण आरम्भ कर दिये। कठिन परिश्रम के पश्चात् वे सफल हुए, उन्हें आत्माका पता मिल गया और जिन क्रियाओं से उन्हें सफलता मिली थी, उन पर भी उनका विश्वास हो गया। आगे उन्होंने अपना प्रचार आरंभ कर दिया और वह योग के प्रथम आचार्य कहलाये, इनका नाम 'महर्षि पतंजलि' था। इनका रचा हुआ ग्रंथ 'योग-दर्शन' के नाम से प्रसिद्ध है, जो योग-विद्या का सबसे प्राचीन और मुख्य ग्रंथ माना जाता है। इस प्रकार इस विद्या का प्रादुर्भाव हुआ।

सिद्धान्त

महर्षि पतञ्जलि अपनी खोज में इस परिणाम पर पहुँचे कि मनुष्य के अन्दर एक चिद्-शक्ति है, जो हर समय तरङ्ग लेती रहती है, वह चित्त में रहती है, इसकी ही ठोकर से मन, बुद्धि व इन्द्रियाँ, प्राण सब चल रहे रहते हैं। जब तक इस चित्त को शान्त न किया जाय, इसके अन्दर से बहने वाली धारों को न रोका जाय, तब तक आत्माकी खोज असम्भव है। इस चित्-शक्ति के धक्के से ही मस्तिष्क, स्नायु, नस-नाड़ी और शरीर का रोम-रोम चलायमान रहता है ; आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन सबको शान्त करना होगा, तब बुद्धि उस आत्म-तत्व को पकड़ने में समर्थ हो सकेगी। इसलिए कि वह आकाश तत्व से भी हजारों गुना अति सूक्ष्म है। बुद्धि का निश्चय करने के लिए यह अन्दर की आँधी शान्त करनी होगी। इसलिए प्रथम सूत्र में उन्होंने बताया है कि—"योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।" जिसका अर्थ है कि चित्त की चञ्चलता रोकने पर ही आत्मा का साक्षात्कार अथवा आत्मा से योग हो सकता है।

मनोशक्ति का अनुभव

जिन दिनों महर्षि इस आत्म-तत्व के अन्वेषण में लगे हुए थे। एक दिन उन्हें अपने अन्तर-क्षेत्र में एक अद्भुत वस्तु दृष्टिगोचर

हुई। उन्होंने देखा कि वह वस्तु पारेकी तरह हिल रही थी, उसमें एक सेकेण्ड को भी स्थिरता नहीं आती। उनको यह भी अनुभव हुआ कि उस वस्तु ने अपने अन्तर की चैतन्य आत्मासे ही कनेक्शन नहीं स्थापित कर रखा है, बल्कि अन्तरिक्ष में स्थित ब्रह्माण्डीय मन से जो ब्रह्मा की संकल्प-शक्ति का मुख्य स्थान है, अपना सम्बन्ध जोड़ रखा है और हर पल शक्ति खींचती रहती है और उसी के सहारे अपना काम करती है। उसके इस स्थान में कल्पना-शक्ति और इच्छा-शक्ति निवास करती है, यह भी उन्होंने देखा। कुछ गहरी दृष्टि से देखने पर यह भी उन्हें पता चला कि उस स्थान से शक्ति की दो धारायें फूट रही हैं, एक ऊपर को जा रही है और दूसरी नीचे को संसार की ओर आ रही है। जो धार ऊपर को आत्मा की ओर प्रवाहित हो रही थी, उसकी तरंगें अत्यन्त धीमी और शिथिल अवस्था में हैं, उसका रंग मटमैला और भद्दा हो रहा है और जो नीचे को गिर रही है उसका प्रवाह बड़े वेग से बह रहा है। वह प्रतिक्षण बुद्धि को, इन्द्रियों को, शरीर और मस्तिष्क के सहारे परमाणुओं को यहाँ तक कि जीवात्मा को भी धक्का दे के नीचे गिराने की कोशिश कर रही है और संसारी विषयों की ओर ला रही है। अन्तरकी सारी उथल-पुथल इसी के द्वारा हो रही है। इस शक्ति का नाम उन्होंने 'मन' रक्खा।

यह सब देखकर उन्होंने सोचा कि—जब तक चंचलता को नष्ट न किया जाय, जब तक चञ्चलता को देने वाले इस मन को शांत न किया, तब तक आत्म-साक्षात्कार की सफलता नहीं मिल सकती। उन्होंने विचार किया कि—किसी तरह यदि इस मनके बाहर की ओर बहने वाली धार को रोककर सारा प्रवाह ऊपर की ओर कर दिया जाय तो कुछ दिनों में यह शांत भी हो सकता है और आत्म-क्षेत्र तक पहुंचा भी जा सकता है।

अब इस काम को करने के लिए ऋषि ने उद्योग आरम्भ किया। नीचे वाली धार को रोकने, मनोशक्ति को ऊपर की ओर चलाने और मन को उसी स्थान पर शांत करने की चेष्टाकी तो उनको बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। जो चीज स्वभाव से ही चंचल हो, जो पारे की तरह मुट्ठी की पकड़ में ही न आवे, उस पर काबू पाना आसान काम नहीं है। पक्का इरादा और दृढ़ सङ्कल्प हो तो दुनिया में ऐसा कोई काम नहीं है जो मनुष्य के लिए असम्भव हो। धीर पुरुष मन को एक ऐसा बन्दर बताते हैं कि जिसने शराब पी रखी हो और उसके नशे में मत-वाला हुआ उछल-कूद लगा रहा हो। इस मन ने भी विजय रूपी मदिरा का प्याला चढ़ाया हुआ है और उसी मस्ती में इधर-उधर दौड़ लगा रहा है। कोई-कोई मन को एक ऐसा भौंरा बताते हैं जो कली-कली का रस लेता फिरता है, एक पर जम कर नहीं बैठता है।

मुश्किलें आईं, समय भी लगा, पर ऋषि ने हिम्मत नहीं हारी, वह अपना प्रयत्न करते

ही चले गये। मन के संग्राम में कभी वह विजयी होते और कभी निष्फल होते। इस तरह कुछ काल में उन्होंने मन को परास्त कर दिया और उसकी सम्पूर्ण शक्तियों को अपने अधिकार में ले लिया।

यह ऐसी सफलता उनको जिन प्रयोगों से मिली, उसका नाम उन्होंने 'अष्टाङ्ग योग' रखा। इसमें एक ही योग के आठ अंग वर्णन किये गये हैं। महर्षि का यह अनुभव इतना पूर्ण है कि योग नाम का कोई भी साधन हो, कोई भी आत्म-साक्षात्कार का मार्ग हो, भक्तियोग, कर्मयोग, हठयोग, ज्ञानयोग, शब्द-योग इत्यादि में से कोई योग हो, बिना इन अष्टांगयोग के पालन किये बिना कभी उनमें सफलता नहीं मिल पाती, सब पर लागू होता है।

अष्टांग-योग

जिस प्रकार शरीर के हाथ, पांव इत्यादि आवश्य अङ्ग अलग-अलग होते हुए भी शरीर के भाग हैं, उन सबको मिलाकर ही शरीर संज्ञा होती है, उसी प्रकार योग रूपी शरीर के यह आठ अङ्ग हैं। इन आठों का साधन करने से ही योग-शरीर पुष्ट होता है और अभीष्ट तक पहुंचता है। ऐसा नहीं है कि पहले एक अङ्ग को पकड़कर पूरा कर लो, तब दूसरे में हाथ लगाओ। ऐसा करने से तो जन्म-जन्मान्तर समाप्त हो सकते हैं और सफलता फिर भी नहीं मिलती। सबको एक साथ साधो और आगे बढ़ते चलो, काम जल्दी पूरा करने का यही तरीका है। जिस प्रकार एक पहलवान व्यायाम और तेल की मालिश से अपने शरीर के सारे अंगों को मजबूत बनाता है और पुष्ट करता है उसी प्रकार तुम भी यौगिक क्रियाओं द्वारा इस योगके सभी अंगों को पूर्ण करते चलो, तुम्हारा रास्ता अति सुगम हो जायेगा। इस योग के आठ अङ्गोंके नाम हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। श्रीसद्गुरुदेव भगवान् अपने प्रवचनोंके दौरान प्रायः विस्तार से इन आठों अङ्गों के बारे में बताया करते हैं। हम सिर्फ यहाँ संक्षेप में यम और नियम पर चर्चा करेंगे—

यम

यम-नियम से तात्पर्य त्यागने और ग्रहण करने का है। बुरे कर्म और बुरे भावों का त्यागना 'यम' और सद्भाव और सद्कर्मों को पकड़ना 'नियम' है। इसकी साधना में मनुष्य को अपना स्वभाव बदलना पड़ता है। मनको रज और तम से हटाकर सत् में लाना होता है। कहने को तो यह एक छोटी-सी बात है, पर स्वभाव का बदलना बड़ा ही कठिन काम है। दृढ़-प्रतिज्ञा कर लेने और अपने ऊपर कड़ी दृष्टि रखने पर भी स्वभाव धोखा दे जाता है और अवसर आने पर वही काम हमसे करा डालता है कि जिसको त्यागने का व्रत हमने ले रखा था। इस तरह हम अपने स्वभाव के धक्के से बारंबार गिरते हैं। मनुष्य को एक बात याद रहे कि यह स्वभाव हमारा ही बनाया हुआ है, हम ही इसके ब्रह्मा हैं, हम इसके गुलाम नहीं हैं,

इसके मालिक हैं, जब बदलना चाहें इसको बदल सकते हैं, इन्द्रियों और मन को दूसरे रास्ते पर चला सकते हैं तो स्वभाव जल्दी बदल जाता है और यम-नियम का पालन होने लगता है।

स्वभाव को बदलने और मन को सात्विकी बनाने के लिए भोजन मुख्य वस्तु है। मन और प्राण भोजन से बनता है। सात्विकी भोजन सात्विकी मन तैयार करता है और राजसी व तामसी भोजन राजसी तामसी मन बनाता है। जिस भोजन में एक-दो वस्तु हों, मिर्च-मसाले कम हों वही सात्विकी गिना जाता है। भोजन के समय चुप रहना और ईश्वर व गुरु का ध्यान रखना भी भोजन को सात्विकी बना देता है। उस समय भोजन के पदार्थों में स्वाद नहीं अनुभव होता, मन जिह्वा पर रस लेने नहीं आता; वह किसी दूसरी धुनमें मस्त होता है। ऐसा ब्रह्म-स्वरूप का चिन्तन किया हुआ भोजन स्वास्थ्य के लिए अति उपयोगी होता है, क्योंकि उस समय मुख उतना ही अन्न लेता है कि जितना शरीर की आवश्यकता है।

आवश्यकतानुसार बोलना और पुस्तकें पढ़ना भी साधकों के लिए लाभदायक होता है, इससे गम्भीरता आती है, मस्तिष्क बलवान होता है और साधना में सफलता जल्दी मिलती है। जो बहुत ही बक-बक करते हैं, व्यर्थ की बातें किया करते हैं एवं बहुत पढ़ते हैं, उनकी वृत्ति चञ्चल रहती है; वह योग के किसी अङ्ग को पूरा नहीं कर पाते।

यम-नियम चरित्र-निर्माण के साधन हैं, जिनका चरित्र अच्छा नहीं, जिनका व्यवहार ठीक और उत्तम नहीं, वे ईश्वर को कभी नहीं पा सकते। हृदय में जीव मात्र के लिए दया और प्रेम होना, ईर्ष्या व राग-द्वेष से बचना यह यम का प्रथम साधन है। दूसरा सत्य है, भीतर भी सत्य हो, बाहर भी सत्य हो, झूठ, कपट, चालाकी, मक्कारी स्वभाव में न हों, यही सत्य है। किसी दूसरे की वस्तु को चोरी या दगाबाजी से लेने की इच्छा न होना 'अस्तेय' है। अपने बल और वीर्य की रक्षा करना 'ब्रह्मचर्य' है। अपने धन में विशेष आसक्ति न होना एवं अत्यन्त कष्ट होने पर भी दूसरों से अधिक सहायता न लेना 'अपरिग्रह' कहलाता है। दूसरों का खाना खाने अथवा दूसरों से धन की सहायता लेने से मनुष्य थोड़ा गिर जाता है। उसकी स्वतंत्रता व स्वाभिमान को एक धक्का लगता है। इस उपकार करने वाले मनुष्य की सूरत भजन के समय में भी सम्मुख आ जाती है और वह सदैव उसका आभारी रहता है। कर्जा व ऋण लेने वाले की यह सही दशा होती है, इसलिए इनसे बचना अपरिग्रह कहलाता है। यह पाँच यम उन्होंने बतलाये है।

नियम

नियम में शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान आते हैं। शरीर व हृदय दोनों को पवित्र रखना 'शौच' है। अधिक लोभ और अधिक तृष्णा से बचना 'सन्तोष' है। तृष्णा एक ऐसी अग्नि है, जब मनुष्य के

तत्व-पारखी दृष्टि

❀ श्री विष्णुप्रसाद व्यास

यह जगत् एक प्रकार का बाजार है, जिसमें प्रत्येक प्रकार की वस्तुओं के ढेर लगे हैं। भाँति-भाँति के यहाँ सौदे होते हैं और भाँति-भाँति की दुकानें हर तरफ सजी सँवरी दिखाई देती हैं। प्रत्येक विचार, प्रत्येक भावना और मन की प्रत्येक तरंग को एक-एक प्रकार की जिन्स अथवा सौदा समझ लीजिये। अब जो जिस वस्तुका ग्राहक अथवा इच्छुक है, उसकी दृष्टि उसी वस्तु पर जाती है और वही वस्तु-विशेष ही उसके ध्यान का केन्द्र-बिन्दु बनकर रह जाती है। कोई उत्तम वस्तुका ग्राहक है तो कोई घटिया का, अपनी-अपनी पसन्द के माल का क्रय-विक्रय करने में सभी दिन-रात व्यस्त हैं। कोई भी प्राणी इस प्रकार के क्रय-विक्रय के व्यवसाय से अछूता नहीं।

अब आपको सर्वप्रथम यही देखना है कि जगत् की इस मण्डी में जो अनेकानेक पदार्थों से भरी है, आप किस जिन्स के ग्राहक हैं। यह तो निश्चय ही है कि जो वस्तु आपकी पसन्द की होगी, उसीकी ओर आपका ध्यान आकृष्ट होगा, वही पदार्थ आपकी दृष्टि में सबसे अधिक महत्त्व का होगा। उसे छोड़कर अन्यान्य सामग्रियों को आप तुच्छ समझेंगे और उनकी ओर आपका ध्यान भूलकर भी नहीं जायेगा।

एक ओर परमार्थ की जिन्स है, दूसरी ओर सांसारिक भोग और सामग्रियों की। दोनों में से जो जिसका ग्राहक है, उसी की ओर वह झुकेगा, क्योंकि उसके विशेष दृष्टि-कोण में वही सर्वोत्तम है। जो परमार्थ का खोजी होगा, वह संसार की सम्पूर्ण लोलुपता में भी पारमार्थिक विचारों की जिन्स को अपनाना चाहेगा तथा संसारी मानव विशुद्ध सात्विक वातावरण में रहकर भी सांसारिक

अन्दर वह प्रज्वलित हो उठती है तो उसे दिन-रात चैन नहीं लेने देती, स्वप्न में भी उसे शान्ति नहीं मिल पाती। अपने मन को मजबूत बनाना, उसमें कष्टों के झेलने की सहन-शक्ति पैदा करना और उसे विषयों की ओर दौड़ने से रोकना 'तप' कहलाता है। भगवान् के आश्रय रहना, उसकी याद रखना 'ईश्वर प्रणिधान' है।

योग-साधना करने वाले के लिए बहुत ठूँस के पेट नहीं भरना चाहिए, कुछ हल्का रहना चाहिए। बहुत सोना और बहुत आलस्य से निठल्ले रहना भी योग-साधना लिए विघ्न है, साधक को किसी काम में अपने को जुटाये रहना चाहिए। बुरी संगति, अश्लील चित्र, सिनेमा, स्त्री-चरित्रों के उपन्यास इत्यादि साधकों के लिए हानिकारक होते हैं। कानों में बुरी आवाज न पहुँचने पाये, आँखों के सम्मुख गन्दे और मन की चंचलता देनेवाले दृश्य न आने पावें, मस्तिष्क में गन्दे साहित्य को स्थान न मिलने पाये, जिह्वा से भगवत्चर्चा या श्रेष्ठ विचार ही प्रकट हों यही 'स्वाध्याय' कहलाता है। अच्छे लोगों की सोहबत, महापुरुषों के जीवन-चरित्र, ईश्वर-अनुराग बढ़ाने वाले ग्रन्थ पढ़ना 'स्वाध्याय' है। मनुष्य अकेला बैठा रहे, परन्तु विषयी पुरुषों की संगति से अपने को बचाये रखें, चाहे वह घर वाले और हितु-सम्बन्धी ही क्यों न हों, इससे बहुत लाभ मिलता है, यह भी स्वाध्याय के अन्तर्गत ही आता है।

लोलुपता के विचारोंको ढूंढ़ता रहेगा। जिस प्रकार बढ़िया मालके ग्राहक की दृष्टि घटिया जिन्स पर न जाती है, न ठहरती है; वैसे ही जिसने परमार्थ-तत्व की परख पहचान कर प्राप्त करली है, वह दृश्यमान जगत्के पदार्थों की ओर कदापि नहीं झुकेगा। धोखा तो वही खा सकता है जिसे माल की परख न हो। परन्तु जब संत-सत्पुरुषों की दया से तत्व-पारखी दृष्टि प्राप्त हो जाती है, तब तो मनुष्य का दृष्टिकोण ही सर्वथा बदल जाता है। तब भूले से भी दृश्यमान पदार्थों की ओर उसका ध्यान नहीं जाता और धोखा खाने की सम्भावना ही नहीं रहती।

परमार्थ-पथ के यात्री को सदैव यह ध्यान रखना है कि वह परमार्थ का खोजी और भक्तिका ग्राहक है। वह संसारी प्राणी अथवा सांसारिक भोगैश्वर्यं का इच्छुक कदापि नहीं है। उसे जगत् के इस बाजार में एकमात्र परमार्थ की जिन्स ही खरीद करनी है और इसी ओर अपना ध्यान केन्द्रित करना है।

इसमें सन्देह नहीं कि संसार में परमार्थ के ग्राहक विरले ही होते हैं और सांसारिक ऐश्वर्य के ग्राहकों का बाहुल्य है। नियम यही है कि उत्तम जिन्स के ग्राहक सदा कम हुआ करते हैं। परन्तु जो होते हैं, वे घटिया जिन्स की ओर कदापि आकृष्ट नहीं होते। जिसे उत्तम पदार्थ प्राप्त हो जाय, उसे साधारण अथवा घटिया पदार्थों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता ही कहां है? यह हमारी अपनी इच्छा पर निर्भर है कि हम किस जिन्स को पसंद करते हैं और हस्तगत करने की चेष्टा करते हैं तथा किस जिन्स को अनावश्यक जानकर छोड़ देते हैं। जगत् के इस बाजार में मानव-प्राणी इन दोनों प्रकार की जिन्सों में से केवल एक को ही हस्तगत करता है। प्रकृति की ओर से दोनों प्रकार की जिन्स मनुष्य के सम्मुख रखदी गई है तथा इसे अधिकार दिया गया है कि जिसे चाहे ग्रहण करले। अब यदि कोई उत्तम एवं मूल्यवान् पदार्थ को त्यागकर तुच्छ पदार्थों के पीछे भागता है तो उसे बुद्धिमान कौन कहेगा?

गोस्वामी तुलसीदास जी कथन करते हैं कि उसे भला कौन चतुर एवं बुद्धिमान कहेगा जो पारस-मणि को त्याग कर कांच और कौड़ियाँ लेना पसंद करे। अर्थात् जब एक ओर पारस-मणि और दूसरी ओर कांच-कौड़ियों के ढेर रख दिये जावें तथा प्रत्येक व्यक्ति को इच्छानुसार एक को पसंद करने की छूट दे दी जावे, तो पारस को छोड़कर कांच के ढेर उठाना जो पसन्द करेगा, वह बुद्धिमान नहीं हो सकता।

स्मरण रहे कि पारस-मणि में यह विशेष गुण है कि उसके साथ स्पर्श मात्र करा देने से लोहा स्वर्ण में परिणित हो जाता है। ऐसी अमूल्य वस्तु की तुलना में कांच-कौड़ियों को रख दिया गया है। अब भला पारस-मणि और कांच-कौड़ी के मूल्य की परस्पर तुलना ही कहां हो सकती है। कहां तुच्छ कांच-कौड़ियाँ और कहां अमूल्य पारस! दोनों में तुलना करना तो सूर्य को दीपक दिखाने जैसी बात होगी।

आपत्ति की जा सकती है कि यह बात हमारे अधिकार में कहाँ है कि हम जो कुछ चाहें, वही हमें उपलब्ध हो जाये। यदि ऐसा संभव हो तो कौन भला पारस जैसी अमूल्य वस्तु को त्याग देने की मूर्खता करेगा? अब क्या हम में इतनी भी समझ नहीं कि हम पारस को खोकर मूल्यहीन कौड़ियों को ग्रहण करेंगे?

परन्तु आपत्ति करने वालों से हमारा कहना है कि हाँ! सब कुछ आपकी अपनी ही इच्छा अथवा अनिच्छा पर निर्भर है। प्रकृति ने यह बात आप पर ही छोड़ रखी है कि आप क्या चाहते हैं? आपको इस बात का पूरा अधिकार दिया गया है कि जगत् के इस बाजार में जिस वस्तु को चाहे उठा लो। मानवकी रुचि पर ही सब बात निर्भर करती है। प्रकृति ने संसारमें सब प्रकार की सामग्री प्रस्तुत करके मानवमात्र को खुल्लमखुल्ला अनुमति प्रदान करदी है कि जिस वस्तु की इच्छा करे, उसे तुरन्त पा ले।

क्या आपने उस राजा की कथा नहीं सुनी, जिसने एक बार प्रजाजनों को खुली छुट्टी दी थी कि प्रत्येक प्राणी जिस पदार्थ को चाहे, प्राप्त करे। यदि वह वार्ता न सुनी हो तो हम सुनाते हैं—

किसी देश के राजा को एक बार यह सूझी कि देखें हमारी प्रजा में किस-किसकी रुचि किस वस्तु में है। यह देखने के लिए राजा ने एक वृहद् क्षेत्रमें बाजार लगाये जाने की आज्ञा दी। वहाँ संसार की प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक जिन्स की दुकानें सजा दी गईं। बढ़िया और घटिया सब प्रकार का माल दुकान पर एकत्र कर दिया था। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं थी जो वहाँ न हो। तदुपरांत राजा की ओर से यह घोषणा करादी गई कि आज के दिन प्रत्येक प्रजाजन को छुट्टी है कि इस बाजार में आकर जिस वस्तु पर हाथ रख दे, वही पदार्थ राजा की ओर से उसे दिया जायेगा। परन्तु प्रतिबन्ध यह भी होगा कि प्रत्येक व्यक्ति को केवल एक बार पसन्द करने की अनुमति होगी। उसके द्वारा एक बार पसन्द किये गये पदार्थ के अतिरिक्त कुछ भी उसे नहीं मिल सकेगा।

उक्त घोषणा सुनकर प्रजाजन वहाँ आने लगे। बाल, युवा, वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभी उस मेले में आकर एकत्र हुए। राजा द्वारा की गई घोषणानुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी रुचि के अनुरूप एक-एक पदार्थ पसन्द करने और ले जाने लगे। कोई तो मणि-माणिकादि की राशि पर हाथ रख देता और वह राशि राजा की आज्ञानुसार उसे प्रदान करदी जाती। कोई मखमल कि वस्त्रों के थान पसंद करता, तो कोई भाँति-भाँति की मिठाइयाँ, मूल्यवान् हाथी, घोड़े इत्यादि। राजा के कर्मचारी वही सामान उठाकर दे देते थे, जिन पर प्रजाजन हाथ रख देते थे। सब लोग अपनी-अपनी रुचि की सामग्रियाँ उठा कर ले आ रहे थे और अभीष्ट पदार्थ को पाकर मारे प्रसन्नता के फूले नहीं समा रहे थे क्योंकि प्रत्येक का यही विचार था कि यही

पदार्थ सबसे अधिक मूल्यवान् तथा महत्वपूर्ण था, जिसे उसने पसन्द किया था।

एक साधु ने भी राजा की उपरोक्त घोषणा सुनी थी और वह भी मेले में आया। परन्तु उसके हाव-भाव लोगों को कुछ विचित्र से प्रतीत हो रहे थे। कारण यह कि वह प्रत्येक पदार्थ पर साधारण सी दृष्टि डालता हुआ आगे बढ़ता चला जाता था। न उसने किसी वस्तुको पसन्द किया, न हाथ लगाया। लोगों ने समझा यह कोई दीवाना है, ऐसे-ऐसे उत्तम तथा मूल्यवान् पदार्थ रखे है, किन्तु इसकी कहीं दृष्टि ही नहीं ठहरती। दो-एक व्यक्तियों ने उस साधु को टोका भी, "क्यों रे बाबा! तू मन्द बुद्धि है या गूंगा, बहरा, अंधा है! अरे, क्या तुझे नहीं मालूम कि आज का दिन जीवन का दुर्लभ दिन है। आज राजा ने घोषणा कर रखी है कि जिस पदार्थ को छूलो, वही तुम्हारा। अजी! इधर हीरे-मोतियों के थाल रखे हैं, उधर सुन्दर पोशाकें है, दूसरी ओर जाओ तो उत्तम वाहन है। तनिक उस ओर तो देखो, भोग-विलास की सामग्रियाँ उपलब्ध हैं। अरे भले आदमी! किसी भी वस्तु को पसन्द कर और वह तुरन्त तुम्हारी हो जायेगी। ऐसा दुर्लभ अवसर नहीं हाथ आने का। देख क्या रहे हो, कोई पदार्थ तो पसन्द कर ही डालो।"

परन्तु वह साधु गुम-सुम खड़ा देखता ही रहा। जब लोगोंने बहुत कहा तो वह बोला-"हाँ, तुमने ठीक ही कहा! आज का अवसर अति दुर्लभ है, इसी कारण ही मैं मौन हूं। जब एक ही बार एक ही वस्तु को पसन्द करना है तो खूब सोच-विचार कर ही पसन्द करूंगा।"

उसकी बात सुनकर तमाशा देखने वाले लोग ठहाकर हंसे—"अजी दीवाना है दीवाना! अब देखो तो भला और क्या सोच विचार कर पसन्द करेगा? जब ऐसे-ऐसे मूल्यवान एवं लुभावने पदार्थ सुलभ है, तो सोचना समझना कैसा? झट से एक पदार्थ पर हाथ धरो और उसे लेकर चलते बनो। यह सोचने विचारने की भी खूब कही। तुम सोचते ही रहोगे और अवसर निकल जावेगा। भाई, हम तो यह जानते हैं कि इन मूल्यवान सामग्रियों को छोड़ देना मूर्खता है।

साधु भी उन लोगों पर हंसा और यह कहकर आगे चल दिया—"आप लोग मुझे पागल समझ रहे है और मैं आप लोगों को। भाई स्पष्ट बात तो यह है कि इन सब पदार्थों में मेरे लिए कुछ भी रुचिकर नहीं है। मैं तो वही वस्तु लूंगा जो मुझे पसंद आ जायेगी।"

कुछ अन्य लोगोंने कहा, अजी जाने दो। जब इस दीवाने को कुछ पसन्द ही नहीं, तो हम क्यों फालतू में अपना समय नष्ट करें। हमें तो अपनी रुचि से प्रयोजन है। चलो, हम क्यों अपनी पसंद की वस्तु छोड़ें। उसे उसी के हाल पर रहने दिया जाय, परन्तु कुछ लोग ऐसे भी थे, जो यह सुनकर भी उस साधु के पीछे हो लिये। वे यह देखना चाहते थे कि अब यह दीवाना साधु किस वस्तु को पसंद करता है।

साधु उसी प्रकार मौन भावसे आगे बढ़ता रहा। यहाँ तक कि मेले के मैदान की सीमा समाप्त होने को आ गई। मेले से आगे राजा का पड़ाव था। वहाँ मन्त्रियों के बीच घिरा हुआ एक ऊँचे सिंहासन पर विराजमान राजा स्वयं मेले का सब दृश्य देख रहा था। साधु अपनी धुन में बढ़ता ही चला गया। उस दिन सब लोग अपनी-अपनी धुन में मग्न थे, साधु की ओर किसी ने ध्यान न दिया। राजा के कर्मचारियों ने भी कुछ रोक-टोक न की। साधु राजा के स्वर्ण-सिंहासन के अति निकट जा पहुँचा और फिर एकायक उछल कर सिंहासनारूढ़ महाराज के चरणोंके समीप ही बैठ गया। राजा ने उसकी ओर दृष्टिपात की और कहा—"रे साधु! तू क्या चाहता है? उधर मेलेमें जा और किसी उत्तम मूल्यवान् पदार्थ को पसंद करले। क्या तूने हमारी आज्ञा नहीं सुनी कि आज जो कोई किसी भी वस्तु का स्पर्श-मात्र करे, वह वस्तु उसी की हो जाये।"

साधु ने हँसकर उत्तर दिया, 'हाँ महाराज! आपकी यह आज्ञा मैंने सुनी है।'

बस फिर! राजा ने उसे समझाने के ढंग से कहा, "शीघ्र जा और जो पदार्थ तुझे पसंद हो, उसे प्राप्त करले।"

साधु पूर्ववत् हँसता हुआ बोला—"हाँ कृपानाथ! मैंने अपना अभीष्ट पसन्द कर लिया है।"

"क्या मतलब?" राजा ने चकित होकर पूछा—"प्रभो! आपकी यह घोषणा थी कि जिस वस्तु को कोई छू ले, वह उसी की हो जावे। मैंने अब आपके चरणों को छू लिया है, बस मुझे केवल इन्हीं चरणों की दरकार है। आपको छू लेने से आप मेरे हो गये, इस मेले के स्वामी तथा रचयिता भी आप हैं तथा जब आप ही मेरे हो चुके तो इस मेले की सब सामग्री किसकी हुई?"

साधु का यह बुद्धि-संगत तर्क सुनकर राजा सिंहासन से उठा और उसने साधु को अपने चरणों से उठाकर गले से लगा लिया तथा अति प्रसन्न होकर बोला, "वाह रे साधो! तेरी बुद्धिमत्ता की प्रशंसा करनीही पड़ी है। तूने सचमुच हमें खरीद लिया है, अब हम तेरे हैं और इसलिए यह तेरा कथन भी उचित ही है कि मेले की संपूर्ण सामग्री भी तेरी हुई।"

राजा और साधु की इस कथा में विचारने की पर्याप्त सामग्री है। जो कोई सांसारिक भोग ऐश्वर्य के पीछे दौड़ा, उसे केवल वही भोग सामग्री ही हाथ लगी, परन्तु जिसने इन सब सामग्रियों के स्वामी को अपना बना लिया, स्वयं सामग्रियोंका स्वामी उसका हुआ ही, साथ ही सब सामग्रियाँ भी उसीकी हुईं।

जगत् के इस बाजार में भी परमेश्वर ने सब कुछ मनुष्य की इच्छा और रुचि पर छोड़ रखा है। मनुष्य जिस पदार्थ को चाहे, पसंद करले। यह मनुष्य जीवन ही वह दुर्लभ अवसर है, जो हमें अपनी पसंद की सामग्री चुन लेने हेतु प्रदान किया गया है। ऐसा दुर्लभ अवसर बार-बार प्राप्त होने वाला नहीं है। अब यह हमारे-तुम्हारे अपने हाथ में है कि

स्पन्द सूत्रों में योगियों का स्तर

❀ श्री डा० विजयसिंह

सद्गुरु के शक्तिपात से साधक में सहज ही शाक्त-भूमियोंकी अनुभूति जाग्रत हो उठती है। भगवान् पतंजलि ने वितर्क, विचार, आनन्द एवं अस्मि नामक सम्प्रज्ञात समाधि तथा पूर्ण वृत्ति निरोध होने पर असम्प्रज्ञात समाधि बतलाया है। 'सिद्धयोग' में सद्गुरु के चिद्-प्रसाद से साधक की कैसी मनोनिग्रह की अवस्थायें होती है, इन्हें शैव योग-दर्शन के स्पन्द शास्त्र में देखने का प्रयास यहाँ इस लेख में कर रहे हैं। ज्यों-ज्यों साधक मनोनिग्रह के अभ्यास की दृढ़ता में बढ़ता है, उसे अनेक प्रकार की पर व अपर सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, इसे अमित एवं मित सिद्धियाँ कहा गया है। अमित सिद्धियाँ तो योगीके सर्वज्ञता, सर्वकर्तृत्वता एवं स्वातन्त्र्य इच्छा-शक्ति का द्योतक होता है, वहीं मित-सिद्धियाँ सांसारिक तुच्छ इच्छाओं की पूर्ति कराने वाली तथा सांसारिक आसक्तियों में आसक्त कराने वाली होने के कारण साधक के लिए (असावधान होने पर) बाधक सिद्ध होती है। जो तीव्र जिज्ञासु भाव से आत्मानुसंधान में पूर्व निष्ठा से लगे रहते हैं, वही अन्ततोगत्वा "चक्रेश्वर पद" को प्राप्त होते हैं। सिद्धियों के वर्ग से योगियों का स्तर निर्णय निम्न स्पन्दात्मक सूत्रों में विवेचित है—

यथेच्छाभ्यर्थितो ध्याता,
जाग्रतोऽर्थान् हृदि स्थितान्।
सोमसूर्योदयं कृत्वा,
संपादयति देहिनः ।।३३
तथा स्वप्नेऽप्यभीष्टार्थान्,
प्रणयस्यानतिक्रमात्।
नित्यं स्फुटतरं मध्ये,
स्थितोऽवश्यं प्रकाशयेत् ।।३४
अन्यथा तु स्वतन्त्रा स्यात्,
सृष्टिस्तद्धर्मकत्वतः।
सततं लौकिकस्येन,
जाग्रत्स्वप्नपदद्वये ।।३५

अर्थात्—यदि योगी, स्वरूप-साक्षात्कार कर लेने पर भी उस भाव पर निश्चलता से अवस्थित रहने के प्रति सावधान न रहे, तो उसके लिए जाग्रत और स्वप्न दोनों पदों में भावों की सृष्टि उसी प्रकार स्वतन्त्र रूप में होती रहती है जैसा सर्वसाधारण में होती है, क्योंकि स्पन्द-शक्ति का यही स्वभाव है।

चाहें तो मालिक को अपना बना लें तथा यदि चाहें तो जगत् के भोगों को अपनायें। तथापि इतना स्मरण रहे कि संसार के भोगादि न किसी के बन सके हैं न बन सकेंगे और जिसने एक बार मालिक को अपना लिया, उसे फिर किसी वस्तु का अभाव ही कहाँ रह जाता है।

अतएव तत्व पारखी दृष्टि बनाते हुए अपने लिए हम वह वस्तु पसंद करें, जिसमें लाभ ही लाभ हो तथा जीवन की सार्थकता भी होती हो।

एक ऐसे साधक को, जिसको अभी स्वरूप बोध न हुआ हो, जाग्रत-अवस्था में अपनी इच्छा के अनुसार कोई खास अभिलषित पदार्थ ही दीखता है। चाहे उसके समक्ष अन्यान्य पदार्थ क्यों न पड़े हों। यह अवधानात्मक शक्ति मनोनिग्रह से ही उदय होती है, जो एक देशीय बना देता है।

साधक स्वप्न-अवस्था में भी अपनी इच्छित भाव का ही दर्शन करता है। इसका हेतु साधक के सुषुम्णाधाम में प्रति समय चित्-शक्ति की अनुभूति स्फुटतर रूप में विद्यमान होना है। इस अवस्था को "स्वप्न स्वातन्त्र" की अवस्था कहते हैं। ऐसे साधक योगी के हृदय पटल पर विद्यमान तामसिक आवरण फट गया होता है।

यदि योगी स्वरूपावस्था (अस्मी भाव) में अवस्थित रहने में सावधानी न बरते तो उसके लिए स्वप्न अवस्था में ऊल-जलूल भावों की ही सृष्टि चलती रहेगी। क्योंकि स्पन्द-शक्ति प्रसवधर्मी है। अतः असावधान योग-साधक को जाग्रत व स्वप्न दोनों अवस्थाओं को भ्रममूलक दृश्य प्रवाहमान रहा करते हैं।

संवित् स्पर्श से सर्वज्ञता, सर्वकर्तृत्व—

अस्मि वृत्ति का उदय ही आत्म-दर्शन की अवस्था है, जिसके लिए ऊपर कहा गया कि खूब दृढ़तर अभ्यास द्वारा आत्म-साक्षात्कार को सुदृढ़ कर लेना चाहिए, जिससे जाग्रत-स्वप्न सभी अवस्थाओं में उसी आत्म-भाव का ही स्फुरण बना रहे। भगवान् पतंजलि ने "ऋतम्भरा प्रज्ञा" की जो बात कही है, वह अब यहाँ निम्न दो सूत्रों में बतायी गई है—

यथा ह्यर्थोऽस्फुटो दृष्टः,
सावधानेऽपि चेतसि ।
भूयः स्फुटतरो भाति,
स्वबलोद्योग भावितः ॥३६
तथा यत्परमार्थेन यदा,
यत्र यथा स्थितम् ।
तत्तथा बलमाक्रम्य न,
चिरात् संप्रवर्तते ॥३७

अर्थात्—शक्ति-बल का पूर्ण उदय होने पर योग-साधक का सर्वज्ञता का विकास हो जाता है। अतीत (बीता हुआ), व्यवहित (भविष्य में होने वाला, आड़ में छिपा हुआ), विप्रकृष्ट (बहुत दूर की वस्तु) का स्वतः सिद्ध ज्ञान हो जाता है। इसका कारण केवल यही है कि उस योगी के स्वरूप पर से तामसिक आवरण हटा हुआ है, फलतः अतीत-अनागत पदार्थों का सही ज्ञान हो जाता है। स्पन्द-शक्ति की आकस्मिक, अपरिलक्ष्य और विद्युत्सम अन्तः बहिः गतिशीलता को ही 'संवित स्पर्श' अथवा 'आत्म-बल का स्पर्श' कहते हैं। सृष्टि का सब कुछ स्पन्द से परिपूर्ण है। अतः योगी थोड़ी सी संवेदना से अतीत, अनागत और विप्रकृष्ट विषयों को यथावत् जान लेता है।

ऐसे साधक योगी में सर्वकर्तृता का उदय होना अशक्य नहीं है। अस्तु—

दुर्बलोऽपि तदाक्रम्य,
यत: कार्ये प्रवर्तते ।
आच्छादयेद् बुभुक्षां च,
तथा योऽतिबुभुक्षित: ॥३८
अनेनाधिष्ठिते देहे,
यथा सर्वज्ञतादय: ।
तथा स्वात्मन्यधिष्ठानात्,
सर्वत्रैव भविष्यति ॥३९

अर्थात्—निर्बल शरीर वाले भी आवेश के समय अद्भुत कार्य कर डालते हैं। आवेश तत्वत: क्या है? किसी भी जीवित प्राणी में अकस्मात् दुर्दान्त और प्रबलवेगी वृत्ति प्रकट होती है, जिससे उसके मानस तथा परिणाम स्वरूप शरीर के प्रत्येक भाग में अलक्ष्य-शक्ति-प्रेरणा का तीव्र संचार हो जाता है। यह अन्तर में ही होता है: आत्म-शक्ति के स्पर्श मात्र का परिणाम है। आवेश काल में देखा जाता है कि देहाभिमान भूल जाने पर ही संवित् स्पर्श प्रकट होता है।

साधारण प्राणीवर्ग में पाया जाने वाला आवेश पूर्ण आवेश नहीं होता, क्योंकि यह मात्र क्षणिक स्पर्शमात्र है। परन्तु योगियों में बात ही कुछ और है। उनका विशुद्ध अहं शरीर, प्राण आदि पर न होकर सीधा आत्मा पर ही होता है। अत: वे पूर्णतया संवित्-समाहित होते हैं। इसलिये उनको सर्वज्ञता और कर्तृता आदि सर्वत्र और सार्वभौमिक होता है। फलत: जहाँ साधारण मानव की ज्ञान-क्रियात्मक स्पन्दना उनके शरीरों के अनुकूल दिक्, काल, आयाम की परिधि में बँधी होती है, वहीं योगी की स्पन्दना दिक्, काल, आयाम को तोड़कर विश्व-व्यापिनी हुआ करती है।

अत: निष्कर्ष रूप में जब तक साधक प्रकाश रूप शिव और उनकी अभिन्न विमर्श शक्ति की समरस अवस्था को प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक उसका प्रमातृ भाव नष्ट नहीं होता। जो सारे शक्ति-चक्रों का अधिपति होता है, वही शिवत्व को प्राप्त होता है—

यदा त्वेकत्र संरूढ-
स्तदा तस्य लयोदयौ ।
नियच्छन् भोक्तृतामेति,
ततश्चक्रेश्वरो भवेत् ॥४०

अर्थात् जब साधक पूर्णत: चित्तको निरुद्ध कर अन्त:बहिर् एकाकार स्पन्दन तत्व की अनुभूति प्राप्त कर लेता है, तब स्वतन्त्रतापूर्वक त्रिगुणात्मक सृष्टि और उसका संहार करने में समर्थ हुआ करता है। अर्थात् शक्ति चक्र का तब वह ईश्वर बन जाता है। भोक्तृ भाव की स्थिर उपलब्धि ही चक्रेश्वरता की उपलब्धि है, वही जन्म-मरण रूप संसृति का अन्त है।

परन्तु पुन: यह विचारणीय है कि शैव शास्त्रों में गुरु-तत्व का महत्व मुक्त-कण्ठ से स्वीकारा गया है। जो अपने अनुग्रह से अंधकारावृत हृदय को लोकोत्तर प्रकाश-पुञ्ज से प्रकाशित कर देते हैं। अत: महा महिमामयी गुरु-शक्ति के सामने हर समय नत-मस्तक होना आवश्यक है। अगाध, दुष्पार संशय-सागर को पार करने वाले उत्सुक साधकों को सारे अभिमान को छोड़कर केवल सद्गुरु

यही है गुरुकृपा

श्री केशव उपाध्याय

क्या आप जानते हैं, ये किसके शब्द हैं ? इसे किसने किसके लिए प्रयोग किया था ? ये शब्द हैं, हमारे-आपके और प्राणी-मात्र के भाग्यविधाता, परम योग-योगेश्वर, अकारण दयालु हमारे दादा गुरुदेव सिद्धेश्वर महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज के और इन शब्दों को श्रीमुख ने परमज्ञानी भक्त श्री अमृतपाल गोयन्दका जी से कहा था। इन शब्दों से सम्बन्धित सम्पूर्ण कथानक का वर्णन संक्षेप में लिखने का प्रयास यहाँ किया जा रहा है।

प्रसङ्ग उस समय का है जब हमारे दादा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज योग-साधन आश्रम ऋषिकेश में सशरीर विराजमान थे। श्री महाप्रभु जी योग-साधन आश्रम ऋषिकेश के प्रांगण में आरामकुर्सी पर विराजमान थे। उसी समय एक मारवाड़ी दम्पत्तिने श्री चरणों में उपस्थित होकर साष्टांग प्रणाम किया। दोनों अधेड़ उम्र के थे। अपराह्न लगभग चार बजे का समय रहा होगा। प्रणाम करने के बाद महिला का पति महाराज श्री के सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। श्री-मुख ने आदेश दिया कि कहो क्या बात है ? पुरुष ने निवेदन किया कि प्रभो ! यह हमारी धर्मपत्नी है। इसे गठिया रोग ने इस प्रकार जकड़ लिया है कि यह थोड़ी दूर भी चल नहीं सकती। इस रोग का प्रभाव इतना बढ़ गया है कि यह बिना किसी सहारे के खड़ी भी नहीं हो सकती। बड़े-बड़े योग्य एवं अनुभवी चिकित्सकों से हमने इसका उपचार कराया। अंग्रेजी, होमियोपैथिक और आयुर्वेदिक

के चरण-कमलोंकी सेवा करना प्रथम कर्तव्य बतलाया गया है। गुरु-गीता के अन्तर्गत स्वयं भगवान् शिव कहते हैं कि—

गुरोः कृपा प्रसादेन,
ब्रह्मा विष्णु महेश्वरः।
सामर्थ्यं तत्प्रसादेन,
केवलं गुरु सेवया॥

अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर गुरुदेव की कृपा के प्रसाद से ही हुए हैं। केवल गुरु की सेवा करने से और गुरुदेव के प्रसाद से उनको सामर्थ्य प्राप्त होती है। अतः शक्तिपात दीक्षा प्राप्त साधकों को अपने चिदाकाश में व्याप्त सद्गुरु शक्ति का खूब सत्कार करना चाहिए। अन्तर-भूमियों के उपलब्ध होने पर जो अमित सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं, उनके बहकावे में नहीं आना चाहिए, अन्यथा अहंकार के उत्पन्न होने पर पुनः पशु भूमिका को साधक प्राप्त हो जाता है।

महाहङ्कार गर्वेण,
तपो विद्या बलान्विता।
संसार कुहरावर्तो,
घटयंत्रं यथा पुनः॥

इलाज कराते-कराते मैं पूर्णरूप से हार गया हूँ। परन्तु रंच-मात्र भी लाभ नहीं है। कभी-कभी तो दवा करने पर रोग घटने के स्थान पर बढ़ भी जाता है। अपनी पत्नी के इस रोग से मैं पूर्णतया उदास और निराश हो गया हूँ। आपके श्री चरणों की महिमा और प्रभाव बहुत ही अच्छी प्रकार से सुनकर इसके रोग निवारणार्थ आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। प्रभो! कृपा करो, अब आपकी कृपा का ही एक मात्र सहारा है, इतना कह-कर उसने पुनः श्री प्रभुजी के चरण-कमल पकड़ लिये। श्री प्रभुजी ने सान्त्वना देते हुए कहा, घबराओ नहीं। उसके कुछ शान्त हो जाने पर श्री महाप्रभु जी ने कहना आरम्भ किया, इससे कुछ योग-आसन और साधन तो बनेगा नहीं, इसका शरीर इस हालत में कुछ भी करने की स्थिति में नहीं है। इसका हम क्या कर सकते हैं। हम तो मात्र योग-आसन द्वारा ही रोग निवारण की विधि बतलाते हैं। यदि ये सब इससे नहीं हो सकेगा, तो डाक्टरी इलाज ही इसके लिए ठीक रहेगा। महिला और उसका पति जो प्रभुजी के मुखारविन्दु को कातर दृष्टि से देखते हुए उनकी बातों को बड़े ही ध्यान से सुन रहे थे, फूट-फूट कर रोने लगे। श्री प्रभुजी ने उन्हें शान्त होने का इशारा करते हुए उसके पति से कहा कि कहो सेठ, हम इसका उपचार कर ही क्या सकते हैं?

मारवाड़ी ने प्रार्थना की कि प्रभो! आप क्या नहीं कर सकते। आप सामर्थ्यवान हैं, सब कुछ करने की ताकत आप के पास है। आप हमें भुलावे में न डालकर निरोग कर देने की कृपा करें। आखिर करुणा-सागर को दया आ ही गई और उन्होंने मुस्कराते हुए आदेश दिया कि यदि तुम्हारा ऐसा विश्वास है कि इस आश्रम से भला हो जायेगा तो तुम दोनों छः महीने तक इस आश्रम में निवास करो। श्री मुख ने आगे आदेश दिया कि तुम दिनचर्या में अपनी पत्नी की सहायता किया करना और यदि उससे समय बचे तो कुछ सेवा आश्रम की भी कर लिया करना। पति-पत्नी जो अपने हाथ जोड़े हुए थे, मौन रूप से आज्ञा स्वीकार कर श्रीचरणों को साष्टांग प्रणाम किया और उसी दिन से आश्रमवासी बन गये। उस त्रिभुवन नायक मायापति की माया को भला कोई जान ही क्या सकता है? मारवाड़ी दम्पति छः महीने तक आश्रम वासी बने रहे एवं लीलाधारी की ऐसी कृपा हुई कि छः महीने का समय व्यतीत होते ही मारवाड़ी की महिला पूर्ण-रूपेण निरोग हो गयी। गठिया रोग की तो बात ही क्या, अब उसके शरीर में कोई रोग नहीं रह गया। इसके उपरान्त उन सबों की प्रार्थना पर द्रवीभूत होकर श्री महाप्रभुजी ने उन्हें विधिवत् योग-दीक्षा प्रदान की और अन्यत्र जाकर योग-साधना करने का आदेश दिया। ये दम्पति श्री चरणों से दूर नहीं रहना चाहते थे अतः ऋषिकेश के उस पार स्वर्ग आश्रम जाकर इन लोगों ने अपना निवास स्थान बनाया और नियमित योग-साधना आरम्भ कर दी। समय निकाल कर

ये दम्पति श्री चरणों के दर्शनार्थ योग-साधन आश्रम ऋषिकेश भी प्रायः आया ही करते थे। स्वर्गाश्रम में होने वाले सत्संगों से भी ये दम्पति रुचि लिया करते थे।

उन्हीं दिनों परम ज्ञानी भक्त श्रीजयदयाल गोयन्दकाजी अपने अनेकों अनुयाइयों के साथ स्वर्गाश्रम में निवास कर रहे थे। उनका दैनिक सत्संग का कार्यक्रम भी चलता था। ये मारवाड़ी दम्पति यदा-कदा उनके सत्संग में भी सम्मिलित हुआ करते थे। अपने दैनिक सत्संग में एक दिन, जब ये मारवाड़ी दम्पति भी उपस्थित थे, श्री जयदयाल गोयन्दकाजी ने बोलते हुए कहा कि ईश्वर तक पहुंचने के अनेक रास्ते बतलाये गये हैं, परन्तु सबसे सरल मार्ग भक्ति का है। साधक समुदाय योग द्वारा भी ईश्वर साक्षात्कार की बात कहता है, परन्तु हमें तो चमत्कार के अलावा योगकी ओर कोई बात समझ में नहीं आती। सत्संग समाप्त हो जाने पर श्री गोयन्दकाजी ने उपस्थित जन-समुदाय से कहा कि मेरे उपदेश में यदि किसी को कोई शङ्का हो तो वह उसका निवारण कर ले। श्री प्रभुजी से दीक्षित मारवाड़ी योगी साधक हाथ जोड़कर बोला कि मान्यवर! आपने योग को केवल चमत्कार बतलाया है, जबकि हकीकत इससे परे है। वास्तविक आध्यात्मिक विद्या तो योग ही है। उसकी योग-परक बातों को सुन कर श्री गोयन्दकाजी बहुत ही प्रभावित हुए एवं योग के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्री महाप्रभुजी के पास जाने की इच्छा प्रकट की। यह तय हुआ कि मारवाड़ी दंपति के साथ श्री गोयन्दकाजी अपने पार्षद गणों को लेकर अगले दिन योग-साधन आश्रम ऋषिकेश आकर योगेश्वर श्री महाप्रभुजी से अपनी जिज्ञासाओं का समाधान करेंगे।

पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार अपने पार्षद गणों एवं अनेक अनुयाइयों के साथ श्री गोयन्दका जी, योगेश्वर श्रीचरणों में दीक्षित मारवाड़ी दम्पति के साथ अगले दिन योग-साधन आश्रम ऋषिकेश पहुंच गये। जिस समय यह समुदाय ऋषिकेश आश्रम पहुँचा, उस समय श्री महाप्रभुजी महाराज आश्रम में आराम-कुर्सी पर विराजमान थे। उनके सामने एक बड़ी सी चटाई बिछी थी, जिस पर उनका शिष्य समुदाय बैठा हुआ था। शिष्य मण्डली के कुछ साधक अ ने नेत्रों से श्री महाप्रभुजी के मुखारविन्द की मनोहर छवि को निहार रहे थे और कुछ अपनी आँखें बन्द किये हुए ध्यानाभ्यास का अभ्यास कर रहे थे। समुदाय के साथ योग-साधन आश्रम ऋषिकेश में पहुंचने पर मारवाड़ी दम्पति ने श्री महाप्रभुजी के चरण-कमलों में साष्टांग प्रणाम किया। श्रीमहाप्रभुजी के आशीर्वाद देने के पश्चात् मारवाड़ी साधक ने हाथ जोड़कर श्रीचरणों में प्रार्थना की कि, प्रभो! आपका नाम श्री जयदयाल गोयन्दकाजी है और यह पूरा समुदाय इनका अनुयायी है। श्री गोयन्दकाजी योग के संबंध में जानकारी प्राप्त करने श्रीचरणों तक आये हैं। श्री महाप्रभुजी ने श्री गोयन्दकाजी एवं

उनकी मण्डली को एक-नजर देखकर उन लोगोंको चटाई पर बैठने का इशारा किया। जब श्री गोयन्दकाजी अपनी पूरी मण्डली के साथ आसन पर विराजमान हो गये तो श्री महाप्रभुजी ने प्रश्न किया कि, महात्मन्! कैसे कष्ट किया? उनका प्रश्न सुनकर श्री गोयन्दकाजी ने उत्तर दिया—महात्मन्! सुना है आप बहुत बड़े योगी हैं, हम योग का कुछ चमत्कार देखने की इच्छा से आपके पास आये हैं। श्रीमुख ने आदेश दिया कि योग तो मात्र एक आध्यात्मिक विद्या है, इसमें चमत्कार नाम की कोई वस्तु नहीं है। उन्होंने बतलाया कि यदि अग्नि के दाहक गुण को कोई चमत्कार कहे, सूर्य-धूप की गर्मी को कोई चमत्कार कहे तो यह उसका अज्ञान-मात्र ही है। श्री गोयन्दकाजी ने निवेदन किया कि अनेक प्रकार के चमत्कार दिखलाने वाले अपने को योगी कहते हैं। क्या वे योगी नहीं हैं? श्रीमुख ने उपदेशित किया कि कदापि नहीं, दुनिया का चमत्कार योग नहीं है। सच्चे अर्थों में जो योगी हैं वे चमत्कार क्या जानें। यह बात अलग है कि उनकी योग-शक्ति के कारण उनके सङ्कल्प मात्र से दुनिया में किसी का कोई अलौकिक कार्य बन जाय। दुनिया का अलौकिक कार्य करने के लिए उन्हें अपनी साधना या शक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती; ये कार्य तो मात्र योगी के सङ्कल्प से हो जाया करते हैं। उनके द्वारा पुनः यह आग्रह किये जाने पर कि महात्मन्! कुछ चमत्कार तो आप दिखलाने की कृपा कीजिये ही। श्री महाप्रभुजी ने मुस्कराते हुए कहा कि महात्मन्! यदि आप चमत्कार देखने के इतने उत्सुक हैं तो किसी जादूगर या मदारी को रुपया, दो रुपया देकर चमत्कार देखने का कष्ट करें। श्री प्रभुजी की यह बात सुनकर श्री गोयन्दकाजी को कुछ झेंप सी महसूस हुई, परन्तु सभी उपस्थित समुदाय श्री प्रभुजी की बात सुनकर मुस्करा रहा था। अतः उनकी झेंप भी उसी मुस्कराहट में समाहित हो गई। वातावरण शान्त होने पर श्री गोयन्दकाजी ने निवेदन किया कि महात्मन्! योग-विद्या के सम्बन्ध में कुछ बतलाने की कृपा की जाय। श्रीमुख ने उपदेशित करना आरम्भ किया कि सब विद्याओं में श्रेष्ठ योग-विद्या है। यह एक ऐसी विद्या है, जिसके जान लेने पर और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। साधना की प्रारम्भिक स्थिति में सामर्थ्यवान् गुरु की आवश्यकता होती है या इसे ऐसे समझ लीजिये कि योगी साधक को अपना अभ्यास सामर्थ्यवान् गुरु के संरक्षण में ही आरम्भ करना चाहिए। श्री महाप्रभुजी की यह बात श्री गोयन्दकाजी के गले के नीचे नहीं उतर रही थी, क्योंकि वे भी तो अनेक शिष्यों के सद्गुरु थे। यह उनका सौभाग्य कहा जाय या दुर्भाग्य कहा जाय कि इस वार्तालाप के समय भी उनके अनेक शिष्य वहीं उपस्थित थे। श्रीगोयन्दका ने प्रश्न किया कि महात्मन्! यदि आप सद्ग्रन्थ महापुरुषों की वाणी को सुनकर या योगपरक पुस्तकों को पढ़कर योग-साधना आरम्भ की

जाय तो उससे क्या हानि है? श्रीमुख ने आदेश दिया कि पहली बात तो यह है कि समय का एक बहुत बड़ा हिस्सा बेकार चला जायेगा। लाभ के बजाय हानि भी हो सकती है और तीसरी जो सबसे मुख्य बात है, वह यह है कि बिना गुरु-कृपा के योग-साधना बन पाना असम्भव सी ही बात है। श्रीमुख ने आगे उपदेशित किया कि यदि गुरु-कृपा का सहारा मिल जाय तो साधक बिना किसी विशेष परिश्रम या कठिनाई के योगी बन जाता है।

अभी श्री महाप्रभुजी, श्री गोयन्दकाजी को निमित्त बनाकर यह उपदेश कर ही रहे थे कि इसी बीच श्री प्रभुजी के एक शिष्य की भस्त्रिका जोर-जोर से चलने लगी, जो पहले से ही आँख बन्द किये हुए ध्यान में बैठा था। काफी देर तक चलने के बाद उसके शरीर में कंपन हुआ एवं एक लम्बा कुम्भक हुआ। श्री गोयन्दकाजी उधर की तरफ रुख करके यह दृश्य बड़े ही आश्चर्य से देख रहे थे। धौंकनी की तरह आवाज देखकर वे पहले ही आश्चर्य में थे एवं लम्बा कुम्भक देखकर वे महान् आश्चर्य में पड़ गये। उनका सभी शिष्य समुदाय भी अपलक नेत्रों से साश्चर्य इस दृश्य को देख रहा था। श्री गोयन्दकाजी ने श्री प्रभुजी से प्रार्थना की कि महात्मन्! आपके इस शिष्य को क्या हो गया है और यह क्या है? श्रीमुख ने मुस्कराते हुए कहा कि इस बालक के पाँचों वायु एकत्र हो गये हैं और इस प्रकार प्राणायाम हो रहा है। श्रीमुख ने आगे कहा कि देख लीजिये यही है गुरु-कृपा।

इस प्रकार के एक नहीं, अनेकों उदाहरण आपको अपने 'श्री सिद्धयोग' दरबार में आज भी अवश्य ही मिल जावेंगे। साधक श्री आराध्यदेव या उनके स्वरूप के सामने बैठा है और अनायास उसके शरीर से विलक्षण योग-क्रियायें स्वत: होनी आरम्भ हो जाती हैं। ऐसे अकारण दयालु श्री महाप्रभुजी एवं अपने आराध्यदेव श्री सद्गुरुदेव भगवान् के युगल चरणों में कोटिशः साष्टांग प्रणाम के बाद उस प्रार्थनाके साथ लेखको यहीं विश्राम दिया जा रहा है कि गुरु-कृपा सदैव बनाये रखने की कृपा की जाय।

—❁ गायत्री जप का फल ❁—

महाभारत अनुशासन पर्व में निष्ठापूर्वक गायत्री जप करने के फल का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

न च राजभयं तेषां न पिशाचान्न राक्षसात्।
नाग्न्यम्बुपवन व्यालाद् भयं तस्योपजायते॥

अर्थात्—गायत्री जप करने वाले द्विज को कोई भय नहीं सताता। राजा, पिशाच, राक्षस, आग, पानी, साँप किसी का भय उसे नहीं होता।

सर्व सिद्धि का मूल : गुरु-प्रसन्नता

❀ ब्रह्मलीन स्वामी मुक्तानन्द महाराज

सिद्ध विद्यार्थी यह न भूलें कि मानव केवल अपने पुरुषार्थ से ही परमार्थ में पूर्णता नहीं पा सकता। व्यवहार में भी देखा जाता है कि मनुष्य पुरुषार्थ के साथ-साथ अन्य जनों की सलाह लेता रहता है। जो स्वयं से नहीं हो पाता वह दूसरे से सीख लेता है। शक्तिपात अथवा क्रिया योग में, सिद्ध विद्या अथवा कुण्डलिनी महायोग में गुरुकृपा ही शरणोपाय है। इस मार्ग में गुरु के मार्ग-दर्शन बिना पूर्णता पाना प्रायः असम्भव है।

आधुनिक समय के स्वतन्त्रवाद और स्वच्छन्दवाद सिद्ध विद्यार्थियों के लिए बड़े विघ्न हैं। सिद्ध मार्ग का विद्यार्थी यदि 'स्वतन्त्र' शब्द के अर्थ का अनर्थ करके, गुरु आज्ञा पालन में आलस्य, प्रमाद, अश्रद्धा, गुरु में दोष दर्शन आदि करता है तो उसकी शक्ति कालान्तर में नष्ट हो जाती है। जब कोई राजा आता है तो अपने सभी ऐश्वर्य के साथ आता है और जिस घर में रहता है उसको सम्पन्न सुशोभित बनाता है। घर के चारों तरफ आनन्द, सौन्दर्य, महिमा बिखेर देता है और जाते समय सभी ऐश्वर्य को साथ में लेकर चला जाता है। ठीक वैसे ही सिद्ध विद्यार्थियों में क्रियात्मक रूप से रहने वाली शक्ति जिन गुरु से प्राप्त है, प्राप्ति के बाद जिनके शासन से वह शासित होकर उनमें कार्य करती है, उन सद्गुरु के विषय में यदि वे सन्देह, दोषदृष्टि, संकल्प-विकल्प करें तो वह सर्वज्ञ शक्ति क्या उन सिद्ध विद्यार्थियों में प्रसन्नता से रहेगी ? इस सिद्ध मार्ग में कुण्डलिनी महायोग में 'गुरुकृपा हि केवलम्' और 'गुरोराज्ञा हि केवलम्' है।

मुक्तानन्द सत्य कहता है कि सब विद्याओं में, मोक्ष धर्म में और स्वस्वरूपविमर्श में श्री गुरुकृपा ही प्रधान है। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—तुम्हारा पुरुषार्थ, तुम्हारा जप, तप, योग, साधन सबके सब तभी फलरूप होंगे जब श्री गुरुकृपा से सन्धिकाल का उदय होगा। साधकजन याद रखें कि वे अपने गुरु को जितना महान, श्रेष्ठ, पूर्ण सिद्ध, सामर्थ्यवान समझते हैं, श्री गुरु उतनी ही सामर्थ्य लेकर उनके साथ खड़े रहते हैं। तुम्हारे साधन की न्यूनाधिकता, तुम्हारी शक्ति का संकोच-विकास, तुम्हारी साधन-समाप्ति का समय, सभी तुम्हारी भावना पर निर्भर है। वस्तुतः तुममें प्रत्यक्ष ईश्वर की नाईं गुरु के प्रति जितना प्रबल, जितना तीव्र भाव होगा उतना शीघ्र तुम सब कुछ पा सकोगे। उसमें देर नहीं लगेगी। इस विषय में एक छोटी सी सत्य घटना कहता हूँ, जो साधक की श्रद्धा और भक्ति को बढ़ाकर उसकी इष्ट प्राप्ति में सहायक बन सकती है।

हाल ही के मेरे महाबलेश्वर के निवास-काल में आई-आई० टी० का एक विद्यार्थी मुझसे मिलने आया था। वह चार-पाँच दिन में ही कृपा पा के साधन करके, ध्यान सम्पन्न

बन के अपने घर जाने को निकला। बम्बई जाते समय बारिश की वजह उसकी मोटर बहुत लेट हो गई। पहुंचते-पहुंचते मध्य रात्रि हो गई। घर पर उसकी माताजी बड़ी व्याकुलता से राह देख रही थीं। सोचतीं कि अभी मोटर क्यों नहीं आई? रात्रि के दस बज गये तब माँ ने अपने प्यारे लड़के की राह देखना छोड़ दिया और वह अपने गुरुदेव से प्रार्थना करने लग गईं। प्रार्थना करते-करते गुरुभाव में तन्मय हो गई। उस समय उसके गुरु सामने प्रकट होकर बोले, "अम्मा चिन्ता मत करो। तुम्हारा लड़का १२ बजकर २५ मिनट पर पहुँच जायेगा" यह सुनकर वह निश्चिन्त हो गई; उसकी श्रद्धा के कारण गुरु के प्रकट होने से वह लड़के की राह देखना भूल गई और ध्यान में फिर से तन्मय हो गई तब फिर कुछ देर बाद किसी ने बाहर से पुकारा "अम्मा! अम्मा!" मैंने उठकर दरवाजा खोला और अपने बेटे को देख फिर घड़ी देखी। ठीक १२ बजकर २५ मिनट हुए थे तब क्या! वह बड़ी आश्चर्य चकित हो गई।

यह माता बाद में महाबलेश्वर आई थी अपने मुख से यह घटना सुनकर "गुरु प्रसन्नता ही सर्व सिद्धिप्रद है" इस विषय में मेरी लेख लिखने की इच्छा हो गई। सन्त तुकाराम महाराज का इस विषय में एक अभङ्ग प्रसिद्ध है, जिसका आशय है कि श्री गुरु-चरणों में भाव पूर्ण विश्वास रखने से सहज में अपने आप बिना कष्ट उठाये भगवान मिल जाता है इसलिए गुरु को भजो उनको अपने ध्यान में लाओ क्योंकि ईश्वर गुरु के पास रहता है।

भाव की महिमा महान होती है। यह एक बार भाव रखा फिर वह पलट जाय तो वही कुभाव हो जाता है। भाव ऐसा होना चाहिए जो अपने को विकसित करे। ऐसा भाव ही आस्तिकभाव कहा जाता है। जिसने एक बार भी क्रियाशीलाचित् शक्ति के प्रभाव को जान लिया उस सिद्ध विद्यार्थी में अपने अन्दर प्रकटरूप से रहने वाली चित् शक्ति में श्री गुरुदेव में अपने आत्मा में और सचित् क्रीड़ा रूप इस जगत् में दृढ़ आस्तिक बुद्धि का उदय हो जाता है। फिर उसके चित्त मन बुद्धि के लिए अपने अन्तर की चिति शक्ति, अपने अन्तर का गुरुभाव अपने अन्तरात्मा को छोड़कर अकारण इधर-उधर जाना बहुत कठिन हो जाता है।

श्री गुरु-चरणों के विषय में सन्त ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—"हे सद्गुरु तव और स्वम् रूपी दोनों चरण अखि पद रूप में पूज लेने से साधक को प्राप्त कर लेने में और कुछ शेष नहीं रहता प्राणी उसी को सब कुछ मिल जाता है। इसलिए सिद्ध मार्ग के साधको! हृदय से सद्गुरु का सम्मान करो उनकी पूजा करो और उनसे हार्दिक प्रेम करो सर्व सिद्धियाँ तुम्हें सहज ही मिल जायेंगी। किसी जादूगर के समान फिर तु अल्पस्वल्प चमत्कार दिखाने की कभी जरूर" नहीं पड़ेगी। निगम का एक वचन है—

गुरुसन्तोषमात्रेण सिद्धि-
भवति शाश्वती ।
अन्यथा नैव सिद्धिः
स्यादभिचारायकल्पते ॥

अर्थात्—श्री गुरुदेव के सन्तोष मात्र से, एक क्षण में नष्ट होने वाली अल्पसिद्धि नहीं, बल्कि शाश्वत सिद्धि प्राप्त होती है। आप कितना भी जाप जपें, तप तपें, ध्यान करें, दान करें, यज्ञ करें, गंगा सागर नहायें, लेकिन गुरु सन्तोष बिना सिद्धि हो ही नहीं सकती।

आजकल साधकों में जो दुर्बलता, साधन शिथिलता और स्फूर्तिहीनता दिखाई देती है उसका कारण गुरु की अप्रसन्नता ही रहती है। गुरु प्रसाद से ही बुद्धि में स्फूर्ति सर्व दुःखों का नाश और गुरु प्रसाद से ही साधन में रति होती है। ईश्वर प्रणिधान में भी तन्मयता भी गुरु द्वारा प्रदत्त कृपा प्रसाद से ही हो पाती है। इसी से समाधि प्राप्त होती है तथा इसी से प्रभु का साक्षात्कार होता है, इसलिए गुरु सन्तोष और गुरु प्रसाद से आपका हृदय खाली न रहे इसका सदैव प्रयत्न करना चाहिये।

जगत् में जिस किसी ने भी सिद्धि पाई है वह श्री गुरु-कृपा से ही पाई है गुरु से अनुगृहीत जीव ही परम स्वतन्त्र मुक्तात्मा बन जाता है। शाश्वत सिद्धि के लिए गुरु सन्तोष की बड़ी आवश्यकता है। गुरु बिना ही अथवा गुरु की कृपा के अभाव में ही मनुष्य दुःखी होता है और गुरु प्राप्त करके ही वह सुखी होता है इसलिए गुरु में पूर्ण-समर्पण करके आप गुरुभाव को अपनाओ। थोड़ा सा ध्यान हुआ, थोड़ी सी क्रिया हुई थोड़ी ज्योति दीखी यह गुरुभाव नहीं है। गुरुभाव इससे बहुत दूर है तुम अपने गुरु में जितनी मात्रा में श्रद्धाभाव को बढ़ाओगे उतनी ही उच्च भूमिका में तुम पहुंच जाओगे इसीलिए तो कहा है—

देवे तीर्थे द्विजे मन्त्रे
दैवज्ञे भेषजेगुरौ ।
यादृशी भावना यस्य
सिद्धि भवति तादृशी ॥

मन्त्र का आशय स्पष्ट है कि देवों में, तीर्थों में, ब्राह्मणों में, चैतन्य मन्त्रों में, दैवी पुरुषोंमें, वनस्पति औषधियों में और श्री गुरुदेव में जिस प्रकार की भावना होती है, जितनी मात्रा में होती है, उसी प्रकार की और उस मात्रा में सिद्धि प्राप्त होती है।

जो गुरु भवसागर में डूबते हुए को उसमें से निकालकर अपने जैसा कर लेता है, सब संशय मिटाने के लिए शिष्य के अन्दर प्रवेश करके शिष्य को चितिमय बना देता है, उसके हृदय के अन्दर पूर्ण ब्रह्म के प्रकाश को प्रकाशित करके दिव्य आत्म तेजको जगा देता है, उसको अपनी जैसी ही आत्म रति देता है। ऐसे गुरु के प्रति तुमको कैसे चलना चाहिए यह तुम ही सोचो। वस्तुतः श्री गुरु जगत को शिष्य के लिए संविद मय बना देने की सामर्थ्य रखता है।

श्री गुरु-कृपा से ही मनुष्य को ऋद्धि-सिद्धि तथा परमानन्द की प्राप्ति गुरु के कृपा

❈ आइये, सन्ध्या करें ❈

❈ श्री अर्जुनदेव शास्त्री

सम्यक् प्रकारेण ध्यान का ही अपर नाम है 'सन्ध्या'। विद्वान् लेखक ने प्रस्तुत लेख में इसी विषय पर अपने विचार प्रकट किये हैं। योग-पथ के साधक लेखक के विचारों से संध्या करने की स्फूर्ति एवं प्रेरणा प्राप्त करेंगे, ऐसी आशा है। लेखक श्री अर्जुनदेव शास्त्री आगरा जनपद के सुविख्यात वेद व्याख्याताओं में से हैं। —सं० सम्पादक

नीतिकारों का एक प्रसिद्ध वचन है कि "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते" अर्थात् प्रयोजन = उद्देश्य के बिना मूर्ख व्यक्ति भी किसी काम में प्रवृत्त नहीं होता है। फिर प्रश्न है कि प्रतिदिन संध्या क्यों करें? संध्या करने से किस उद्देश्य की पूर्ति होगी अथवा उसका क्या लाभ है? निश्चय से प्रश्न अच्छा है और इसको हल किये बिना संध्या नहीं हो सकेगी। हम प्रयत्न करेंगे कि अत्यन्त सरल रीति से इस पर विचार करेंगे। तो विचार कहाँ से प्रारम्भ हो? हमारी दृष्टि से विचार का अपने आपसे हो। थोड़ा विचार कीजिए, आत्म-चिन्तन कीजिए कि हम जीवन में क्या चाहते हैं।

संसार का प्रत्येक व्यक्ति जीवन में सुख एवं शान्ति चाहता है। उसके सारे कार्य सुख एवं शान्ति की प्राप्ति के लिए होते हैं। संसार के विविध पदार्थों में उसका मन रमण करता है, क्षणिक सुखोपभोग के उपरान्त वह फिर अन्यत्र प्रयत्न करता है। सांसारिक पदार्थोंसे उसे वह तृप्ति, वह सन्तोष, वह शान्ति नहीं मिलती है जिसकी उसे चाह है। संसार के क्षणिक सुखों में जो उसका लगाव हो जाता है, वह भी छूटता नहीं है। संसार के विविध नश्वर पदार्थों की प्राप्ति में उसका समय, उसका तप समाप्त हो जाता है, किन्तु सांसारिक विषयभोगों में उसे शान्ति नहीं मिलती है, उसकी लालसा फिर भी समाप्त नहीं होती है, वह स्वयं समाप्त हो जाता है। महाराजा भर्तृहरि ने क्या ही उत्तम लिखा है—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता,
कालो न यातो वयमेव याता।
तपो न तप्तं वयमेव तप्ता:
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा:।

कैसी विचित्र स्थिति है, संसार के सभी पदार्थों में रमण करते-करते हम ही समाप्त हो जाते हैं, तो फिर क्या संसार को छोड़ें, इसको मिथ्या समझें, गेरुए वस्त्र रंगाकर संन्यासी बन जाएं तभी परम शान्ति प्राप्त होगी, तभी जीवन के लक्ष्यकी प्राप्ति होगी?

प्रसाद से ही सुलभ होती है अन्य कोई मार्ग सिद्धि प्राप्ति का है ही नहीं, श्री गुरु से शक्ति प्राप्त किये हुए शिष्य की पूर्ण शान्ति से ही गुरु को सन्तोष प्राप्त होता है। वस्त्र दिए, अन्न दिया खिलाया पिलाया इस स्थिति से गुरु को क्या सन्तोष होगा। श्री गुरुवर तो तभी सन्तुष्ट होते हैं जब शिष्य उनमें मिलकर गुरु ही बन जाया करता है। ▣

नहीं यह धारणा भी एकांगी है। जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह जीवन मिला है, यह संसार मिला है, यह असत्य नहीं मिथ्या नहीं, सत्य है वास्तविक है। संसार में रहते हुए संसार के पदार्थों को प्राप्त करते हुए हम परम शांति प्राप्त कर सकते हैं मोक्षके अधिकारी या पात्र बन सकते हैं। यह धारणा भी गलत है कि संन्यासी ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। एक गृहस्थी भी मोक्ष का अधिकारी या पात्र हो सकता है। उसी मार्ग को 'संध्या' पुष्ट करती है, हमें मोक्ष का अधिकारी बनाती है, हम परम शान्ति प्राप्त करने के पात्र बनते हैं। संसार में रहते हुए संसार के पदार्थों का भोग कैसा और कितना प्राप्त करें यह संध्या बताती है। संध्या ही यह बताती है कि केवल इन्हीं भौतिक वस्तुओं में नहीं रमना है आगे भी बढ़ना है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ना है। सुखसे परम शान्ति की ओर बढ़ना है। संध्या ही यह शिक्षा देती है—समस्त प्राणियों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। संध्या से जीवन में आत्म-विकास होता है। भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति ही सच्चा मार्ग है और इस मार्ग को पुष्ट करने वाली संध्या ही है। अतः हमें प्रतिदिन संध्या करनी ही चाहिए।

एक और दृष्टि से विचार कीजिये। क्या आपने कभी अपने शरीर का एवं विशाल संसार का निरीक्षण किया है? शरीर को ही देख लीजिये, कैसी सुन्दर व्यवस्था है—देखने के लिए आँखें, सुनने के लिए कान, चखने के लिए जीभ, पदार्थों तक पहुँचने के लिए पैर, प्रयोग के लिए हाथ, चिन्तन के लिए मन, निश्चय के लिए बुद्धि, जीवन के लिए प्राण आदि सभी साधन शरीर को प्राप्त हैं। आंतरिक भाग देखिये—अन्न खाने का साधन पाचन यंत्र, मलशोधन यंत्र, मल निष्कासन-साधन, रक्त, मज्जा, अस्थि निर्माण यन्त्र, ओज निर्माण आदि साधन समान रूप से प्राप्त हैं। फिर विशाल संसार को देखिये, विविध वृक्ष, लता, पुष्प, फलादि युक्त पृथ्वी, अन्तरिक्ष, प्राणप्रद वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, जल-निर्माण क्रिया, सबका नियन्त्रण आदि सभी कितना विशाल एवं सर्व सुलभ साधन है। कभी आपने सोचा है उक्त सभी शारीरिक एवं सांसारिक साधन हमारे लिए कितने आवश्यक है। इनके बिना क्या हमारा जीवन चल सकता है? एक क्षण के लिए वायु बन्द हो जाय तो थोड़ी कल्पना कीजिये कि ये कितने आवश्यक है। पता चला शरीर और संसार दोनों ही आवश्यक हैं। इस संसार और शरीर के नियम को देखकर, उचित व्यवस्था को देखकर, एकता को देखकर क्या आपको इसके नियामक, व्यवस्थापक तथा संचालक का बोध नहीं होता है।

जिस महान् शक्ति की व्यवस्था से हमें यह सब प्राप्त हुआ है। क्या उसके प्रति कृतज्ञ होना हमारा कर्त्तव्य नहीं है? उसके महान् उपकारों का चिन्तन करते हुए उसका गुणानुवाद करना हमारा कर्त्तव्य नहीं? उसके महान् दान के लिए धन्यवाद देना हमारा

कर्त्तव्य नहीं ? निश्चय से कर्त्तव्य है, अनिवार्य रूप से कर्त्तव्य है—बस इसी कर्त्तव्य पूर्ति के लिए संध्या कीजिये—प्रतिदिन कीजिये।

यदि आप थक न गये हों तो थोड़ा और चिन्तन कीजिये। संध्या करने से पाप नष्ट नहीं होते हैं। हमने पाप किया और उस पाप का फल हमें दुःखरूप में न मिले। इसलिये संध्या करें, यह धारणा मिथ्या है। संध्या कृतपाप के फलको नष्ट नहीं करती है, अपितु पाप-भावना का विनाश करती है। यह चंचल मन जो निरन्तर पाप की ओर अग्रसर होता है, पाप का ही चिन्तन करता है, संध्या हमें इस भावना से मुक्त करा देती है। अन्तःकरण में अनेक जन्मों से चले आ रहे दूषित संस्कारों को संध्या क्षीण करती है। काम-क्रोध-लोभादि विकारों पर विजय सन्ध्या दिलाती है। संध्या दुष्प्रवृत्तियों से हटाकर हमें सुप्रवृत्ति की ओर अग्रसर करती है। संध्या हमें समन्वय के मार्ग पर चलाती है। प्रेय-श्रेय का समन्वय, प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वय, भौतिक-आध्यात्मिक का समन्वय तथा इहलोक और परलोक के समन्वय को संध्या कहते हैं।

स्मरण रखना चाहिए कि शरीर ही सब कुछ नहीं यह तो नश्वर है। इसमें स्थित आत्मा अजर, अमर है, संसार ही सब कुछ नहीं है, संसार भी नश्वर है। वेदके शब्दों में- अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता

संसार से परे एक तत्व है उसका नाम परमात्मा है—बस आत्मा को परमात्मा से मिलाना है, इसे मिलाने का साधन है संध्या। कठोपनिषद्कार कहते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः,
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः,
तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥

यह परमात्मा प्रवचन, मेधाबुद्धि या सत्संग से नहीं मिलता है। जिसको परमात्मा चाहता है उसी को अपना स्वरूप प्रकट करता है। प्रश्न यह है कि परमात्मा किसको चाहता है, जो उसका पात्र बनता है, उसको चाहता है। संध्या मनुष्य को पात्र बनाती है, कैसे बनाती है। यह परमात्मा ने चाहा, तो सन्ध्या-विधि की व्याख्या में स्पष्ट करेंगे। आशा है आप संध्या करेंगे, प्रतिदिन करेंगे, अवश्य करेंगे।

❀ जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ ब्रह्म के दर्शन होने से मन को जो स्थिरता आती है वही 'उत्तम धारणा' मानी गई है।

❀ सद्वृत्ति से 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी जो निरालम्बता की परम आनन्ददायिनी स्थिति है, वह 'ध्यान' शब्द से प्रसिद्ध है।

❀ वृत्ति से निर्विकार और फिर ब्रह्माकार होकर जो सम्यक् वृत्ति-विस्मरण होती है—यह 'ज्ञान-समाधि' होती है।

—आचार्य विनोबा

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम

योगाङ्गानि

सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानात् इन्द्रियग्राम संयमः।
यमोऽयं इति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥

'सब ब्रह्म है' ऐसे अनुभव के कारण होने वाले इन्द्रिय समूह के संयम को 'यम' ऐसा कहा गया है। इसका बारम्बार अभ्यास करना चाहिए।

सजातीय प्रवाहश्च विजातीय तिरस्कृतिः।
नियमो हि परानंदो नियमात् क्रियते बुधैः॥

सजातीय अर्थात् ब्रह्म के अनुकूल वृत्ति का अन्तःकरण में प्रवाह और विजातीय यानी तत्प्रतिकूल वृत्ति का तिरस्कार, यही परमानन्द देने वाला नियम होता है। सयाने लोग इसका नियम से अनुष्ठान करते हैं।

त्यागः प्रपंचरूपस्य चिदात्मत्वावलोकनात्।
त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षमयो यतः॥

चिदात्मत्व के (चेतनता के) दर्शन से हुआ प्रपञ्च का त्याग ही 'त्याग' होता है। वह महान् लोगों को पूज्य है, क्योंकि वह शीघ्र मोक्ष देने वाला होता है।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
यत् मौन योगिभिर् गम्यं तद् भजेत् सर्वदा बुधैः॥

जहाँ से वाणी मन के साथ बिना प्राप्ति के वापस आती है, वह 'मौन' होता है। योगी ही इस मौन को जान सकते हैं। इसके लिए बुद्धिमानों को सदा प्रयत्न करना चाहिए।

आदौ अन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन् न विद्यते।
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः॥

आदि, अन्त और मध्य में जहाँ कोई मनुष्य रहता नहीं, केवल ब्रह्म-तत्त्व से जो सदा व्याप्त है, वह 'विजन देश' कहा जाता है।

कलनात् सर्व भूतानां ब्रह्मादीनां निमेषत: ।
काल शब्देन निर्दिष्टो ह्यखंडानन्द अद्वय: ।।

ब्रह्मादि सर्व भूतों को जो निमेषभर में गिनता है, उस 'काल' शब्द से अखंड आनन्द स्वरूप अद्वैत आत्मा का निर्देश किया जाता है ।

सुखेनैव भवेत् यस्मिन् अजस्रं ब्रह्म-चिन्तनम् ।
आसनं तत् विजानीयात् नेतरं सुख-नाशनम् ।।

जिस स्थिति में सुखपूर्वक सतत् ब्रह्म-चिन्तन होता है, वह 'आसन' समझा जाय । सुख का नाश करने वाले अन्य आसन, आसन नहीं होते ।

यत् मूलं सर्व-भूतानां यत् मूलं चित्त-बंधनम् ।
मूल-बंध: सदा सेव्यो योगोऽसौ राज-योगिनाम् ।।

जो सर्व भूतों का मूल, चित्त के बन्धन का जो मूल है, वही 'मूलबन्ध' योग होता है । राजयोगियों के इस योग का सदा अनुष्ठान करना चाहिए ।

अंगानां समतां विद्यात् समे ब्रह्मणि लीयते ।
नो चेत् नैव समानत्वं ऋजुत्वं शुष्क-वृक्षवत् ।।

(जिसके द्वारा साधक) सम ब्रह्म में लीन होता है वह अङ्गों की समता जानी जाय । सूखे हुए वृक्ष की तरह का सीधापन समानत्व नहीं है ।

दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येत् ब्रह्ममयं जगत् ।
सा दृष्टि: परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ।।

दृष्टि ज्ञानमयी करके जगत् ब्रह्ममय देखें, वह दृष्टि परम उदार है । केवल नासिकाग्र देखने वाली दृष्टि दृष्टि नहीं ।

चित्तादि-सर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात् ।
निरोध: सर्व-वृत्तीनां प्राणायाम: स उच्यते ।।

चित्त आदि सब भावों में ब्रह्मत्व की भावना से सब वृत्तियों का निरोध करना 'प्राणायाम' कहा जाता है ।

निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुन: ।
वृत्ति-विस्मरणं सम्यक् समाधिर्ज्ञान-संज्ञक: ।।

सब विषयों में आत्मता देखकर मन को चैतन्य में विलीन करना—यह 'प्रत्याहार' समझा जाय । वह मुमुक्षुओं द्वारा अभ्यसनीय है ।

दिव्य जीवन का निर्माण

श्री रामवन आर्य

ओं अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। अहमनृतात्सत्यमुपैमि।

—यजु० १/५

मन्त्र का भावार्थ—हे अग्नि स्वरूप परमेश्वर आप अनन्त शक्ति और ज्ञान के असीम भण्डार हैं और आप सभी व्रतों के पालक या रक्षक हैं। आज मैं असत्य को छोड़कर सत्य को धारण करने का व्रत ग्रहण करता हूँ। आप इस व्रत के पालन करने में मुझे सफल समृद्ध कीजिये, जिससे मैं व्रत का अनुष्ठान दृढ़ता के साथ करता रहूँ।

कोई भी मनुष्य केवल याचना करने से ही अपने अभीष्टों की प्राप्ति नहीं कर सकता। अपितु अपने मनोरथों को प्राप्त करनेके लिए उसे सतत् पुरुषार्थ करना पड़ता है, तभी इष्ट सिद्धि भी हुआ करती है। प्रार्थना के द्वारा हम अपने इष्टदेव परमेश्वर से जो कुछ मांगते हैं, वह हमारी प्राप्ति का लक्ष्य बन जाता है। उस लक्ष्य की प्राप्ति या पूर्ति के लिए हमें ईश्वर की व्यवस्था के सतत पुरुषार्थ करना पड़ता है, तभी उसकी प्राप्ति संभव हुआ करती है। महर्षि दयानन्द जी ने अपने स्वमन्तव्य अमन्तव्य प्रकाश में भी प्रार्थना के सम्बन्ध में यही लिखा है कि प्रार्थना का अर्थ अपने पूर्ण पुरुषार्थ के पश्चात् उसकी प्राप्ति के लिये उसकी सहायता की याचना करना। इस वेद मन्त्र से भी यही प्रेरणा मिलती है कि केवल व्रतों (सत्य नियमों) के ग्रहण और धारण करने से ही इष्ट सिद्धि सम्भव नहीं हुआ करती, अपितु उन व्रतों (नियमों) का दृढ़ता से पालन करने या उन व्रतों के पालन को अपने आचरण का अभिन्न या अटूट अङ्ग बना लेने से ही इष्ट सिद्धि हुआ करती है।

ऊपर के इस मन्त्रसे यही प्रेरणा मिलती कि परमेश्वर स्वयं जिस प्रकार अपनी व्यवस्थाओं में सृष्टि नियमों का दृढ़ता या कठोरता से परिपालन कर रहे हैं, उसी प्रकार आप मुझे भी ऐसा सामर्थ्य प्रदान कीजिये कि मैंने जो असत्य को त्याग कर केवल सत्यानुरूप ही अपना आचरण बनाने का व्रत लिया है उसे मैं भी अपने सत्याचरण को दृढ़ता से स्थिर बनाये रक्खूं और इस सत्य पालन के सम्भावित और अवश्यम्भावी परिणामों और फलों से अपने इस जीवन को इसके राध्यों (ऐश्वर्यों) से सम्पन्न बना सकूं। साधकोंको यह तथ्य कभी नहीं भूलना चाहिए कि व्रतों के केवल धारण कर लेने से नहीं, अपितु व्रतों के निरन्तर शाश्वत रूप से पालन करने से अर्थात् इनके दृढ़तापूर्वक अनुष्ठान करने से ही इष्ट सिद्धि हुआ करती है।

तस्मै श्री गुरवे नमः

श्री सिद्धगुफा पर गुरु-पूर्णिमा का आयोजन

आज ११ जुलाई को सारे देश में गुरु-पूर्णिमा का महोत्सव परम्परा के अनुसार मनाया गया। श्री सिद्धगुफा सवाई आश्रम के प्रांगण में भी गुरु-पूजन के रूप में यह पर्व कई हजार योग-पथानुरागी गुरु-भाई-बहिनों की उपस्थिति में बड़े ही हर्षोल्लास के साथ मनाया गया। गुजरात, बिहार, राजस्थान, पूर्वी-पश्चिमी उत्तर-प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, हिमाचल और मध्यप्रदेश जैसे दूरस्थ राज्यों के गुरु-भाई-बहिन बड़ी संख्या में अपने आराध्य गुरुदेव का पूजन और चरण-स्पर्शन करने के लिए एक-दो दिन पूर्व ही आश्रम पर आ गये थे। प्रातः वेला में ही प्रभुजी की आरती के पश्चात् विधिवत् गुरु-पूजन का शुभारम्भ हुआ। सबसे पहले आश्रम के अन्तःवासी ब्रह्मचारियों और कार्यकर्ताओं ने गुरु-पूजन का लाभ लिया। इसके बाद अन्य आगन्तुक भाई-बहिन पंक्ति-बद्ध खड़े हो गये तथा बारी-बारी से पूजा के लिये आगे बढ़ने लगे। साधकों और शिष्यों की भीड़ इतनी अधिक थी कि महिला और पुरुष दोनों को ही अलग-अलग पंक्ति-बद्ध होकर आगे बढ़ना पड़ा। प्रभुवर श्री रामलालजी महाराज की जय और गुरुदेव भगवान् श्री चन्द्रमोहनजी महाराज की जय! के गगन-भेदी घोषों और उनकी प्रतिध्वनियों से समूचा वातावरण आश्रम की पवित्रता और सात्विकता का परिचय दे रहा था तथा यह भी सहजतया प्रतीत हो रहा था कि गुरु-पूजन परम्परा को आगे बढ़ाने में इस देश में कितनी अधिक अभिरुचि है। 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः, गुरुः साक्षात् परब्रह्म, तस्मै श्री गुरवे नमः।' यह वाक्य सार्थक होता हुआ मूर्तरूप में यहाँ दिखलाई पड़ रहा था, प्रत्येक उस गुरु भाई-बहिन के मुखरित से आनन पर जो गुरु-पूजन के लिए इस दिन इस आश्रम पर आये थे।

आश्रम पर आयोजित गुरु-पूजन महोत्सव इस बात का भी स्पष्ट परिचय दे रहा था कि गुरुदेव और शिष्य-समूह के बीच में कितनी अभिन्नता, कितना अगाध प्रेम तथा कितनी गहरी श्रद्धा समाई हुई है। प्रातः उषाकाल से प्रारम्भ होकर मध्याह्नोत्तर ६ बजे इस मेले की परिसमाप्ति एक पारस्परिक सहभोज के साथ हुई।

❀ रुद्राभिषेक महायज्ञ ❀

आश्रमधाम के सुरम्य वातावरण में पिछले वर्षों की भाँति इस वर्ष भी ३१ जुलाई से २७ अगस्त तक आचार्य महादेव जी के संयोजन में रुद्राभिषेक महायज्ञ का आयोजन चलता रहा। इसकी पूर्णाहुति २७ अगस्त को हुई। अनेक गुरु-भाई-बहन इस अवसर पर आश्रमवास करते हुए अपना यौगिक अनुष्ठान भी करते रहे। पूज्यपाद श्री गुरुदेव महाराज अपना एकान्तवास भी आश्रम पर करते रहे। एकान्तवास की समाप्ति पूर्णाहुति वाले दिन २७ अगस्त को हुई।

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008 Sept. 1987

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER
Book–Post

श्री ....

....

....

....

भौतिक कामनाओं से बचिए

कामना के वशीभूत होने पर मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है तथा वह उचित-अनुचित का विचार नहीं करता। घनीभूत कामना, पीड़ा, व्यथा, चिन्ता, भय, तनाव और अशान्ति को उत्पन्न कर देती है तथा पूर्ण न होने पर वह असन्तोष, निराशा और ग्लानि को उत्पन्न करके एवं मनोबल को ध्वस्त करके मनुष्य को दीन बना देती है। अतः भौतिक पदार्थों के सुख भोग की कामना में मनुष्य को ग्रसित नहीं होना चाहिए।

—श्रीमद्भगवद् गीता